रजिस्ट्रेशन नं. RAJSAN/2015/61410

स्वाध्याय शिक्षा

(प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में शास्त्रीय ज्ञानवृद्धि की प्रेरक पुस्तक)

आगम अनुप्रेक्षा–समवायाङ्गसूत्र अंक

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

प्रकाशक
श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर

स्वाध्याय शिक्षा

(प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में शास्त्रीय ज्ञानवृद्धि की प्रेरक पुस्तक)

वर्ष-37 **अंक-2** **15 मार्च, 2022**

प्रधान सम्पादक

प्रकाशचन्द जैन

कार्यकारी सम्पादक

त्रिलोकचन्द जैन

जिनेन्द्र कुमार जैन

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र

आध्यात्मिक शिक्षा समिति

ए-9, महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर, जयपुर-302015

फोन 0141-2711910, 7045747164, 9694430826, 9887268051

Email : assjaipur108@gmail.com

प्रकाशक

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ

(संचालक-गजेन्द्र निधि)

सामायिक स्वाध्याय भवन, प्लॉट नं. 2, नेहरू पार्क, जोधपुर-342001

फोन 0291-2624891

Email : swadhyaysanghjodhpur@gmail.com

शुल्क/साभार का चैक/डी.डी./नेफ्ट/नकद राशि **'श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ'** बैंक खाता संख्या **PNB** 00592010003010 **IFSCC Code** PUNB0005910 में जमा कराकर जमापर्ची (काउण्टर-प्रति) को प्रकाशक पते पर भिजवावें।

इस प्रति का मूल्य : 10/- आजीवन सदस्यता शुल्क 20 वर्ष : 1000/-

सृजन संचयन श्रुत संवर्धन, सत्साहित्य समीक्षा।
संयम शील संस्कार प्रेरणा, हित स्वाध्याय शिक्षा।।

नोट :-यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से सम्पादक मण्डल की सहमति हो।

विषयानुक्रमणिका

आगम अनुप्रेक्षा–समवायाङ्गसूत्र अंक

सम्पादकीय

समवायाङ्ग में श्रावक की प्रतिमाएँ : प्रकाशचन्द जैन 3

प्राकृत खण्ड

उसहनाहचरियं (13) : कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य 8

चउसरणपइण्णा : संकलित 13

संस्कृत खण्ड

हरिश्चन्द्रचरित्रम् : संकलित 17

हिन्दी खण्ड

समवायाङ्गसूत्र–एक परिचय : आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. 21

इच्छामि खमासमणो के 25 आवश्यक : श्री धर्मचन्द जैन 33

समवायाङ्ग में वर्णित 18 लिपियाँ और 18 भाषाएँ बोलने वाला भारत : डॉ. दिलीप धींग 37

महाव्रतों की सुरक्षा कैसे हो ? : श्री पदमचन्द गाँधी 43

चित्त की अशान्ति के कारण : जिनेन्द्र कुमार जैन 54

महामोहनीय कर्म : एक पर्यवेक्षण : त्रिलोकचन्द जैन 60

जैनागमों में मरण का स्वरूप : श्रीमती अरूणा कर्नावट 72

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी (23) : सम्पादक 77

समाचार एवं साभार : संकलित 78

सम्पादकीय

समवायाङ्ग में श्रावक की प्रतिमाएँ

-प्रकाशचन्द जैन

श्रावकों के तीन प्रकार कहे जाते हैं-(1) जघन्य श्रावक-वह श्रावक जो देव, गुरु, धर्म के स्वरूप को समझकर व्रतों को उपादेय मानता है परन्तु व्रतों को स्वीकार नहीं करता, इसे दर्शन श्रावक भी कहा जाता है। (2) मध्यम श्रावक-जो व्रतों के स्वरूप को समझकर यथाशक्ति 5 अणुव्रत 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रत रूप 12 व्रतों को स्वीकार करता है। (3) उत्कृष्ट श्रावक-जो व्रतों के साथ प्रतिमाओं को अंगीकार करता है। समवायाङ्गसूत्र, आवश्यकसूत्र तथा दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में श्रावक की 11 प्रतिमाओं का वर्णन हुआ है। प्रतिमाओं के नाम में कुछ भेद दिखाई देता है। समवायाङ्ग में पहली प्रतिमा का नाम दंसणसावए, पाँचवीं का दिआ बंभयारी रत्तिं परिमाणकडे तथा छठी का दिआ वि राओ वि बंभयारी असिणाई वियडभोजी मोलिकडे किया है, जबकि दशाश्रुतस्कन्ध में पहली प्रतिमा का नाम दंसणपडिमा, पाँचवीं का काउस्सग्गपडिमा तथा छठी का बंभचेरपडिमा किया है। प्रतिमाओं के उपनियमों में भी कुछ अन्तर दिखाई देता है। दिगम्बर परम्परा में प्रतिमाओं के वर्णन में कुछ अन्तर है वहाँ सचित्त त्याग को पाँचवीं तथा ब्रह्मचर्य को सातवीं प्रतिमा कहा है तथा नवमी प्रतिमा का नाम परिग्रह-त्याग और दशमी प्रतिमा का नाम अनुमति-त्याग प्रतिमा कहा है।

दिगम्बर परम्परा में वर्तमान में अनेक श्रावक प्रतिमाओं का आराधन करते हुए दिखाई देते हैं। स्थानकवासी परम्परा में प्रतिमाधारियों के क्वचिद् उदाहरण मिलते हैं। रायचूर, भड़गाँव, होलनान्ता आदि स्थानों पर कुछ श्रावक आज से 40 वर्ष पूर्व देखे जाते थे आज तो शायद ही कोई होंगा। आवश्यकता है ऐसे श्रावक तैयार हों।

प्रतिमाओं का स्वरूप

(1) दंसणसावए-दर्शन श्रावक (दर्शन-प्रतिमा) इस प्रतिमा में श्रावक एक मास के लिए निरतिचार शंका, कांक्षा आदि दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करता है। चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, देव-दानव आदि का उपसर्ग हो या मनुष्य-

तिर्यञ्च आदि का उपद्रव हो वह साधक अपने सम्यक्त्व से चलित नहीं होता। इस प्रतिमा का आराधक श्रावक के 12 व्रतों का धारक होता ही है। निरतिचार सम्यक्त्व की आराधना करने वाला होने से इसे दर्शन श्रावक कह दिया गया है।

कहीं-कहीं प्रतिमाओं के साथ उपवास की चर्चा आई है पहली में एक, दूसरी में दो इस तरह ग्यारहवीं प्रतिमा में 11-11 उपवास करके पारणा करने का कहा है। मूल आगम समयवायाङ्ग व दशाश्रुतस्कन्ध में इसका कहीं वर्णन नहीं आया है। किसने व कब यह बात जोड़ी यह अनुसन्धान का विषय है। सम्भवत: इसी कारण वर्तमान में इनकी आराधना नहींवत् हैं, अत: इसे सुधार कर प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

(2) कयव्वकम्मे-कृत व्रत कर्मा (व्रत-प्रतिमा) इस प्रतिमा का आराधक श्रावक के 12 व्रतों का दो माह के लिए एक भी दोष न लगाते हुए निरतिचार पालन करता है। एक-एक व्रत के अतिचारों को पूरी जागरूकता और सावधानी से ध्यान में रखते हुए उनके सेवन से अपने को बचाता है। जिस व्रत का जो स्वरूप है उसके अनुसार पालन करता है। जैसे पहले व्रत में श्रावक निरपराधी त्रस जीवों को मारने की बुद्धि से मारने का त्याग करता है, वहाँ उसके स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं है, उसे वह चाहे तो कम या त्याग कर सकता है। पर उसकी अनिवार्यता नहीं है क्योंकि वह उसके व्रत के स्वरूप में नहीं है, जो उसने व्रत में मर्यादा की है उसमें दोष नहीं लगता है। इस प्रतिमा में पाँच अणुव्रत व तीन गुणव्रत की निरतिचार पालना पर अधिक ध्यान दिया जाता है। चार गुणव्रत आगे की प्रतिमाओं में आ जाते हैं।

पहली-पहली प्रतिमाओं में आगे की प्रतिमाओं की नियमावली लागू नहीं होती। आगे-आगे की प्रतिमाओं में पूर्व की प्रतिमाओं के नियम पालना अनिवार्य है। जैसे दूसरी व्रत प्रतिमा में सचित्त का त्याग करना अनिवार्य नहीं है परन्तु सम्यक्त्व की निरतिचार पालना अनिवार्य है।

(3) सामाइयकडे (सामायिककृत)-इस प्रतिमा में निरन्तर तीन माह तक प्रात: व सांयकाल अथवा प्रात: दोपहर व सायंकाल (त्रिकाल) शुद्ध सामायिक की आराधना की जाती है। सामायिक में लगने वाले 10 मन के, 10 वचन के तथा 12 काया के इन 32 दोषों से रहित सामायिक शुद्ध सामायिक होती है। सम्यक्त्व सहित व्रतों की आराधना के साथ की गई शुद्ध सामायिक से इस प्रतिमा की आराधना की जाती है। 18 पापों का दो करण तीन योग से त्याग करके विधिसहित लेने व विधि

सहित पारने का उपक्रम किया जाता है। तीन माह तक किया गया यह अभ्यास साधक को समभाव का अधिकारी बना देता है।

(4) पौषधोपवासनिरए (पौषधोपवास निरत)–अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा या अमावस्या को माह में 6 प्रतिपूर्ण या उपवास सहित पौषध करके इस प्रतिमा की आराधना की जाती है। इसकी आराधना चार मास तक की जाती है।

जिसमें शरीर का पौषण नहीं करके आत्मा का पौषण किया जाता है, वह पौषध है। इसमें चारों आहार का त्याग, अब्रह्म का त्याग, सुवर्णमणि, माला, शस्त्र आदि का त्याग किया जाता है। पौषधोपवास शब्द से ध्वनित होता है कि पौषध उपवास के साथ ही होता है।

(5) दिआ बंभयारी रत्तिं परिमाणकडे (कायोत्सर्ग प्रतिमा)–यह प्रतिमा पाँच माह के लिए की जाती है। इसमें साधक दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा रात्रि की मर्यादा करता है। धोती का लांग खुली रखता है। पूर्व की चार प्रतिमाओं का पालन करते हुए पौषध के दिन-रात्रि में नियत समय पर कायोत्सर्ग करता है। जिन साधकों ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रखा है, वे प्रतिदिन नियत समय पर कायोत्सर्ग कर सकते हैं। इसे कहीं नियम प्रतिमा भी कहा गया है।

(6) दिआ वि राओ वि बंभयारी असिणाई वियडभोजी मोलिकडे (ब्रह्मचर्य प्रतिमा)–इस प्रतिमा में छह माह तक साधक सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। पूर्व की पाँच प्रतिमाओं की आराधना के साथ ब्रह्मचर्य पालन करते हुए स्नान का त्याग करता है। ब्रह्मचारी को स्नान की आवश्यकता नहीं रहती। ब्रह्मचर्य को ही स्नान कहा गया है। इस प्रतिमा का धारक रात्रिभोजन का त्यागी होता है तथा दिन में भी प्रकाश युक्त स्थान में भोजन करता है।

दशाश्रुतस्कन्ध में पाँचवीं से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा का जघन्य काल एक, दो, तीन दिन से लेकर उत्कृष्ट उस प्रतिमा का जितना काल है उतना बताया गया है। समवायाङ्ग में काल का वर्णन नहीं है।

(7) सचित्त-परिण्णाए (सचित्त-त्याग प्रतिमा)–इस प्रतिमा की आराधना करने वाला साधक पूर्व की छह प्रतिमाओं का पालन करते हुए सचित्त वस्तुओं के सेवन का सात माह तक त्याग करता है। सचित्त वस्तुओं में श्रावक पानी, नमक, फल, मेवे आदि सभी सचित्त वस्तुओं का त्याग करता है।

अचित्त बनायी हुई इन पानी आदि वस्तुओं का सेवन कर सकता है। फलों के रस आदि जब तक 24 मिनिट का समय नहीं हो उपभोग में नहीं लेता। मिर्ची, नींबू, केरी आदि के आचार पूरे गले बिना नहीं लेता। एक सप्ताह के पहले किसी भी प्रकार का आचार ग्राह्य नहीं माना जाता। इसी तरह चटनी आदि जब तक पूरी अचित्त न हो जाय ग्रहण नहीं करता।

(8) आरंभ-परिण्णाए (आरम्भ-त्याग प्रतिमा)-इस प्रतिमा का धारक साधक सभी प्रकार के आरम्भ का आठ माह के लिए त्याग करता है। किसी प्रकार का व्यापार-धन्धा, खेती, नौकरी आदि सभी आरम्भ के कार्यों का त्याग करता है। 'आरंभे नत्थि दया'-आरम्भ में दया नहीं रहती। अत: वह सभी आरम्भ का स्वयं नहीं करने का प्रत्याख्यान ग्रहण करता है और अपना अधिकांश समय धर्माराधना संवर, सामायिक आदि में व्यतीत करता है। पूर्व की सात प्रतिमाओं की नियमावली का पूर्ण पालन करते हुए इस प्रतिमा की आराधना करता है।

(9) पेसपरिण्णाए (प्रेष्य-त्याग प्रतिमा)-इस प्रतिमा की आराधना करने वाला साधक पूर्व की आठ प्रतिमाओं का पालन करते हुए दूसरों से आरम्भ कराने का भी नौ माह के लिए त्याग करता है। करना, कराना व अनुमोदन करना पाप की ये तीन कोटियाँ हैं इस प्रतिमा में साधक न तो स्वयं आरम्भ का सेवन करता है न ही किसी अन्य सेवक आदि को भेजकर आरम्भ करवाता है। इन प्रतिमाओं में उसके केवल अनुमोदन का पाप खुला है बाकी का त्याग करता है।

(10) उद्दिष्टभक्त-त्याग प्रतिमा-इस प्रतिमा का आराधक साधक अपने निमित्त से बने भक्तपान के उपयोग का त्याग करता है। अर्थात् आधाकर्मी आहारादि का त्याग करता है तथा क्षुरा से शिर का मुण्डन करता है। किसी के द्वारा एक बार या अनेक बार पूछे जाने पर उसे दो भाषाएँ बोलना कल्पता है। यथा-यदि जानता हो तो कहे-मैं जानता हूँ। यदि नहीं जानता हो तो कहे-मैं नहीं जानता हूँ। इस प्रतिमा का आराधन काल 10 माह का है।

(11) श्रमणभूत प्रतिमा-इस ग्यारहवीं प्रतिमा का आराधक श्रावक घर का त्याग करके साधु जैसा वेष धारण करके साधुओं के समीप रहता हुआ अथवा अन्यत्र भी साधुधर्म का पालन करने का अभ्यास करता है। क्षुरा से शिरमुण्डन या केश-लोच करता है। साधु के भण्डोपकरण ग्रहण करता है। चलते समय ईर्या समिति

का पालन करते हुए चलता है। यतना से जीव रहित मार्ग से चलता है। ज्ञातिजनों के घरों में गोचरी के लिए जाता है। गृहस्थ के घर आगमन से पूर्व जो वस्तु तैयार है वही लेता है बाद वाली नहीं लेता। गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर उसे इस प्रकार बोलना कल्पता है–

'प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।' इस प्रकार की चर्या से उसे विचरते हुए देखकर यदि कोई पूछे–हे आयुष्मन्! तुम कौन हो? तुम्हें क्या कहा जाय?

उत्तर में वह कहे–मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ। इस प्रकार कहना चाहिए। इस प्रकार ग्यारह माह तक श्रमण जैसा जीवन जीता हुआ इस प्रतिमा की आराधना करता है।

प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक को सांसारिक जिम्मेदारियों से निवृत्त होना तो आवश्यक है ही किन्तु सातवीं प्रतिमा तक गृहकार्यों का त्याग आवश्यक नहीं है तथापि प्रतिमा के नियमों का पालन करना अनिवार्य है। आठवीं प्रतिमा से अनेक गृहकार्यों का त्याग करते हुए ग्यारहवीं प्रतिमा में सम्पूर्ण गृहकार्यों का त्याग करके श्रमण के समान आचार का पालन करता है।

इस प्रकार 11 प्रतिमाओं की आराधना का कुल काल साढ़े पाँच वर्ष का है उसके बाद चाहे तो सामान्य श्रावक का जीवन जीये या चाहे तो दीक्षा लेकर साधु जीवन अंगीकार करे या पुन: पुन: प्रतिमाओं की आराधना करे।

वर्तमान में गुरु–भगवन्तों के द्वारा यदि इन प्रतिमाओं की आराधना की आज्ञा प्रदान की जाय तो अनेक श्रावक इस आराधना में जुड़कर अपना उच्च साधना का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

किनकी आशातना नहीं करना

1. तीर्थङ्कर, 2. केवलिप्रज्ञप्त धर्म, 3. आचार्य, 4. वाचक (उपाध्याय), 5. स्थविर, 6. कुल, 7. गण, 8. संघ, 9. साम्भोगिक, 10. क्रिया (आचार) विशिष्ट, 11. विशिष्ट मतिज्ञानी, 12. श्रुतज्ञानी, 13. अवधिज्ञानी, 14. मन:पर्यवज्ञानी और 15. केवलज्ञानी इन पन्द्रह विशिष्ट पुरुषों की आशातना नहीं करना।

-समवायाङ्गसूत्र, समवाय 91

उसहनाहचरियं (13)

-कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य

कलिकालसव्वण्णुणा सिरिहेमचंदसूरिणा विरआओ तिसट्ठिसिलाहापुरिसाओ नाम गंथाओ उद्धरियस्स सिरिउसहनाहचरियस्स नाम गंथस्स आधारेण संकलियं इदं चरित्तं।

अमराणंपि परुप्परपराभवकिलिट्ठाणं सामिसेवगभावबद्धाणं निरंतरं दुक्खमेव। सहावओ अइदारुणे असारे संसारसमुद्दे जलजंतूणमिव दुक्खाणं न अवही, भूअपेआइसंकुले ठाणे मंतक्खरं इव दुक्खनिलयसंसारे जिणिंददंसिओ धम्मो एव भवविणासणे उवाओ। 'जीवहिंसा कया वि न कायव्वा।' पाणिणो हिंसाइ अइभारेण नावा इव नरए मज्जंति। 'असच्चं सव्वहा चेयणीअं' जं असच्चवयणेण पाणिगणो चिरं संसारे भमेइ। 'अदिण्णं न गेज्झं'–जओ अदिण्णाऽऽदाणाओ कविकच्छुफलफरिसाओ इव कया वि सुहं न लहेज्जा। 'मेहुणं सव्वहा परिहरियव्वं'–अबंभसेवणेण हि गलम्मि गहिऊण रंको इव जणो निरयम्मि पक्खिविज्जइ। 'परिग्गहो न धरियव्वो'–परिग्गहवसेण जं लोगो अइभारेण बलीवद्दो इव दुक्खपंकम्मि निमज्जइ। जो इमाइं पंचावि हिंसाईणि देसओ वोसिरेज्ज सो वि उत्तरुत्तरकल्लाण संपयं पावेइ।

देवता भी परस्पर हार के दु:ख से, स्वामी–सेवकभाव से बँधे होने के कारण निरन्तर (सदा) दु:खी रहते हैं। स्वभाव से ही भयंकर और नि:सार संसार–समुद्र में जल में रहने वाले जीवों की भाँति दु:खों की कोई सीमा नहीं है। भूत–प्रेतादि के स्थान में मन्त्राक्षर की भाँति दु:ख के घर रूपी संसार में जिनेन्द्रोपदिष्ट धर्म ही भव–परम्परा को नष्ट करने का साधन है। 'जीव हिंसा कभी भी नहीं करनी चाहिए।' प्राणियों की हिंसा के अत्यधिक भार से नाव के समान नरक रूप समुद्र में डूब जाता है। 'असत्य का सर्वदा परित्याग करना चाहिए।' कारण, असत्य वचन से जीव दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। 'चोरी भी नहीं करनी चाहिए अर्थात् बिना अनुमति के कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करना चाहिए।' क्योंकि, चोरी करने वाला उसी प्रकार दु:ख पाता है जिस प्रकार क्रोंच की फली का स्पर्श करने वाला खुजलाते–खुजलाते कष्ट पाता है। 'मैथुन–अब्रह्म सेवन का भी सर्वदा (हमेशा) त्याग करना चाहिए।' कारण, अब्रह्म का सेवन करने वाले व्यक्ति को गर्दन पकड़कर गरीब (लाचार) की

भाँति नरक में डाल दिया जाता है। 'परिग्रह नहीं रखना चाहिए' कारण, परिग्रह के भार से व्यक्ति बैल (वृषभ) पर अधिक भार लादने के समान दु:ख रूपी कीचड़ (दलदल) में डूब जाता है। जो जीव इन हिंसादि पाँचों व्रतों का आंशिक रूप से भी परित्याग करता है वह उत्तरोत्तर कल्याण सम्पत्ति को प्राप्त करता है।

निन्नामिगाए सम्मद्दंसणलाहो, अणसणं च काऊणं सा ललियंगदेवस्स सयंपहा देवी जाया–

उस निर्नामिका ने सम्यक्त्व को प्राप्त किया और अनशन करके ललितांग देव की स्वयंप्रभादेवी बनी–

अह सा संसारभयतसिया पत्तसुद्धसंवेगा रागद्दोसकम्मगंथिं भिंदिऊण महामुणिस्स पुरओ सम्मद्दंसणं पावेइ, भावओ अ जिणिंददेसिअं गिहिधम्मं अंगीकरेइ, परलोगमग्गपत्थेयणभूआइं च पंचाणुव्वयाइं पडिवज्जित्ता मुणिणाहं पणमिऊण दारुभारं च घेत्तूण कयकिच्चेव मुइअमाणसा नियवरंमि गच्छेइ।

अब उस निर्नामिका ने संसार–भय से भयभीत होकर शुद्ध वैराग्य को प्राप्त किया, राग–द्वेष रूप कर्मों की ग्रन्थि का भेदन कर महामुनि के पास सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तथा भावपूर्वक सर्वज्ञकथित श्रावक धर्म (गृहस्थ धर्म) को अंगीकार किया और परलोक के पाथेय रूप पाँच अणुव्रतों को धारण करके महामुनि को प्रणाम करके तथा लकड़ी का भार (गट्ठर) लेकर कृतकृत्य समझती हुई अपने घर पर जाती है।

तओ आरब्भ सा जुगंधरमहामुणिस्स य देसणं नियनामं इव अविस्सरंती दुब्भग्गकम्मखवणत्थं नाणाविहं दुक्करं तवं तवंती कमेण जोव्वणं पत्ता, तह वि दुब्भगं तं न कोवि परिणेइ, तओ विसिट्ठयरसंवेगा तत्थ गिरिवरे पुणो सभागयस्स जुगंधरमुणिवरस्स अग्गओ अहुणा गहियाणसणा सा अत्थि। तओ तत्थ गच्छसु, इमीए निअं रूवं दंसेहि, जइ तुमए सा रागिणी सिआ, तो तुज्झ पती होज्जा 'जओ अंतकाले जारिसी मई, गई किल तारिसी भवे।'

तभी से (उस दिन से ही) प्रारम्भ कर वह निर्नामिका युगन्धर मुनि के उपदेश को अपने नाम के अनुरुप हृदय में धारण कर अशुभ कर्मों को क्षय करने के लिए अनेक प्रकार के दुष्कर तप से तपते हुए क्रमश: यौवन को प्राप्त हुई, तब भी दुर्भाग्य से किसी ने भी उससे विवाह नहीं किया। तब विशेष वैराग्य से उस निर्नामिका ने पुन:

पर्वत पर स्थित युगन्धर मुनि के समक्ष अनशन ग्रहण किया है। अत: हे ललितांग देव! आप वहाँ जाओ, उसे अपना (स्वयं का) रूप दिखाओ, यदि वह आपमें अनुरक्त होती है तो आप उसके पति हो जाओगे। 'मृत्यु के समय जैसी मति होती है, वैसी ही उसकी गति होती है।'

एवं मित्तवयणं सोच्चा सो तहेव अकासी। सा निन्नामिगा ललियंगदेवम्मि रागिणी समाणा मरिऊण पुव्वमिव सयंपहा नाम तस्स पिआ जाया। सो वि ललियंगदेवो पणयकोवाओ पणट्ठं इव तं पावित्ता तीए समं अहिययरे कामभोगे विलसिउं लग्गो।

इस प्रकार मित्र के वचन सुनकर उस ललितांग देव ने वैसा ही किया। वह निर्नामिका ललितांग देव पर अनुरक्त होती हुई मरकर पूर्व की भाँति स्वयंप्रभा नाम की उसकी पत्नी बनी। वह ललितांग देव भी प्रणय कोप से दूर हो जाने वाली स्त्री के पुन: आने की भाँति उस देवी को प्राप्त कर उसके साथ अधिक से अधिक कामभोगों में आनन्द क्रीड़ा करने लगा।

ललियंगदेवस्स चवणचिण्हाइं, तओ चविऊण ललियंगो वज्जजंघो, सयंपहा य सिरिमई जाया–

ललितांग देव के च्यवन सम्बन्धी लक्षण, तत्पश्चात् च्यवन करके ललितांग देव की वज्रजंघ और स्वयंप्रभा देवी की श्रीमती के रूप में उत्पत्ति–

एवं तीए सद्धिं रममाणा कियंतम्मि काले गए सो ललियंगदेवो निअचवणचिण्हाइं पेक्खित्था तया तस्स रयणाहूसणाइं तेअरहियाइं जायाइं, पुप्फमालाओ मिलाणं पत्ताओ, अंगं वत्थाइं च मलिणिआइं, 'जओ आसण्णे वसणे लच्छीए लच्छीनाहो वि मुंचिज्जइ' कामभोगेसुं च तिव्वासत्ती तस्स जायइ, तस्स परिवारो वि सव्वो सोगविरसं जंपेइ, 'जंपिराणं हि भाविकज्जाणुसारेण वाया निग्गच्छइ।'

इस प्रकार उन्हें साथ में रमण (क्रीड़ा) करते हुए बहुत काल व्यतीत हो गया। उस ललितांग देव ने अपने च्यवन के चिह्न (लक्षण) देखे तो उस स्वयंप्रभा देवी को रत्न–आभूषण निस्तेज लगने लगे, पुष्प मालाएँ म्लान और शरीर के वस्त्र मलिन लगने लगे। कहा गया है–'दु:ख समीप (निकट) आने पर लक्ष्मी के द्वारा विष्णु भी छोड़ दिये जाते हैं।' और उस ललिताङ्ग देव को कामभोगों में तीव्र आसक्ति उत्पन्न हुई। उसके

परिवार वाले भी सब शोक-कारक और नीरस वचन बोलने लगे। बोलने वाले के मुख से भविष्य में होने वाले कार्य के अनुसार ही वचन (वाक्य) निकलता है।

आकालपडिवण्णपिआहिं सह च्चिअ कयावराहो इव सिरि-हिरीहिं परिमुच्चइ, मच्चुकाले पक्खेहिं कीडिआ इव सो अदीणो वि हि दीणयाए, विणिद्दो वि हि निद्दाए अ अस्सिओ, तस्स तणुसंधिबंधणा हियएण सद्धिं विसिलेसित्था, महाबलेहि पि अकंपणिज्जा कप्पतरवो कंपिउं लग्गा, रोगरहियस्स तस्स भाविदुग्गइगमणुत्थ-वेयणा संकाए इव सव्वंग-उवंगसंधीओ भंजित्था, तस्स दिट्ठि वि मइला जाया, तक्खणे अंगाणि वि गब्भावासनिवासुत्थ दुहाऽऽगमभयाओ इव अच्चंतकंपणसीलाइं जायाइं, स रम्मेसु वि कीलागिरि-सरोवर-वावी-उववणेसु वि कत्थ वि रइं न पावित्था, तओ पियं नेहरहिअं पासित्ता सा सयंपहादेवी वएइ-हे पिय! मए किं अवरद्धं? जं एवं सुण्णचित्तो दीसइ।

जन्म से प्राप्त प्रिया के द्वारा लक्ष्मी और लज्जा का किसी अपराधी की भाँति परित्याग कर दिया। जिस प्रकार मृत्यु के समय कीड़ियों के पंख निकल आते हैं, उसी प्रकार वह ललितांग देव अदीन से दीन और निद्रा रहित से निद्राधीन हो गया। हृदय के साथ उसके शरीर के सन्धि-बन्ध शिथिल से शिथिल होने लगे। महाबलवान् के द्वारा भी जिन कल्पवृक्षों को कँपाया (हिलाया) नहीं जा सके वे हिलने (काँपने) लगे। उनके नीरोग अङ्ग-उपाङ्गों की सन्धियाँ भविष्य में दुर्गति में जाने पर होने वाली वेदना के भय की भाँति भग्न होने (टूटने) लगी। उनकी दृष्टि भी मैली हो गई अर्थात् उनको कम दिखाई देने लगा। तत्काल ही गर्भावास के दु:ख प्राप्त होने के भय की भाँति शरीर के समस्त अंग काँपने लगे। उन्हें रमणीय क्रीड़ा पर्वत-सरोवर-बावड़ियाँ-उपवन आदि में कहीं पर भी अच्छा नहीं लगता। तभी पति को स्नेह रहित देखकर वह स्वयंप्रभा देवी बोली-हे प्रिय! मेरे द्वारा कौनसा अपराध किया गया है ? जो इस तरह शून्यचित्त दिखाई दे रहे हो।

ललियंगो बोल्लेइ-हे पिए! तुमए न अवरद्धं किंतु मए चिअ, जओ पुव्वभवे तवो अप्पो कओ, धम्महीणो अ केवलं कामभोगेसुं चेव पसत्तो, पुव्वजम्ममि अहं विज्जाहरनरिंदो हुवीअ, तया सेसंमि आउसंमि पुण्णोदयपेरिएण व्व सयंबुद्धेण मंतिणा पडिबोहिओ अहं जिणिंदधम्मं

पावित्था। तेण अंतिमकाले आराहिअधम्मपहावेण एयंमि सिरिप्पहविमाणे सामित्तणेण समुप्पन्नो, अहुणा तं पुण्णं खीणं तेण इओ अहं चइस्सामि।

ललितांग देव बोले–हे प्रिये! तुम्हारे द्वारा कोई अपराध (अन्याय) नहीं किया गया, किन्तु अपराध मेरा ही है जो पूर्वभव में कम तप किया और धर्महीन (अधर्मी) होकर मात्र कामभोगों में ही फँसा रहा। मैं पूर्वभव में विद्याधर राजा था, तब आयु शेष होने पर पुण्योदय से प्रेरणा देने वाले स्वयं मन्त्री से बोध प्राप्त कर मैंने जिनधर्म स्वीकार किया। जिससे अन्तिम समय में आराधित धर्म के प्रभाव से इस श्रीप्रभ विमान में स्वामी के (इन्द्र) रूप में उत्पन्न हुआ। अब उस पुण्य क्षय के कारण यहाँ से मुझे जाना होगा।

एयं भासमाणस्स तस्स पुरओ देविंदेण आदिट्ठो दिढधम्मो नाम देवो उवेच्च तं एवं वएइ। 'अज्ज ईसाणिंदो नंदीसराइदीवेसुं जिणिंदपडिमच्चण–महूसवं काउं गच्छिहिइ, ता तुमं पि तस्साऽऽणार आगच्छसु', एवं सोच्चा अहो! पुण्णुदयाओ मम कालोइअं सामिसासणं ति पमुइअमणो पियाए सहिओ चलीअ। नंदीसरम्मि गच्चा वीसरिआसण्णचवणो सो परमहरिसेण सासयपडिमाओ अच्चेइ, तओ सुहभावणावासिअमणो अन्नेसुं तित्थेसुं गच्छंतो वियाले खीणाउसो सो चविओ।

।। पंचमो भवो समत्तो।।

इस प्रकार कहते हुए उसके समक्ष देवेन्द्र (ईशानेन्द्र) की आज्ञा से दृढ़धर्मा नामक देव उपस्थित होकर उसको इस प्रकार बोला–'आज ईशानेन्द्र नन्दीश्वर आदि द्वीपों में जिनेश्वर प्रतिमा पूजन महोत्सव करने के लिए जायेंगे, उनकी आज्ञा से तुम्हें भी जाना चाहिए।' इस प्रकार सुनकर, अहो! पुण्योदय से मुझे समय रहते स्वामी का शासन प्राप्त हुआ है। इस प्रकार प्रमुदित मन से स्वयंप्रभा देवी को साथ लेकर चले। नन्दीश्वर द्वीप पर जाकर अपने निकट भविष्य में होने वाले च्यवन को भूलकर वह ललितांग देव आनन्दित होते हुए शाश्वत प्रतिमाओं की पूजा करता है। शुभ भावना से वासित मन से अन्य तीर्थों पर जाते हुए संध्या के समय आयु समाप्त होने से वे देवयोनि से च्युत हो गए।

।। पाँचवाँ भव समाप्त ।।

क्रमशः

अनुवादक–राकेश कुमार जैन

चउसरणपइण्णा (चतु:शरण प्रतिज्ञा)

-संकलित

गयवसह-सीह-अभिसेअ-दाम-ससि-दिणयरं झयं कुंभं।
पउमसर-सागर-विमाण-भवण-रयणउच्च य सिहिं च।।8।।

गयवसह-सीह-अभिसेअ- [(गय) (वसह) (सीह) (अभिसेअ)] पुल्लिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-गज, वृषभ, सिंह, अभिषेक (लक्ष्मी)। **दाम-**(दाम) नपुंसकलिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-माला। **ससि-दिणयरं झयं कुंभं-** [(ससि) (दिणयर) (झय) (कुंभ)] पुल्लिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-चन्द्रमा, सूर्य, ध्वजा, कुंभ। **पउमसर-सागर-** [(पउम) (सर) (सागर)] पुल्लिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-पद्म सरोवर, (क्षीर) सागर, **विमाणभवन-** [(विमान) (भवण)] नपुंसकलिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-विमान अथवा भवन। **रयणउच्च-** [(रयण) (उच्च) विशेषण] पुल्लिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-रत्नों का ढ़ेर। **य-**अव्यय-और। **सिहिं-**(सिहि) पुल्लिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-अग्नि को। **च-**अव्यय-और।

(1) गज, (2) वृषभ, (3) सिंह, (4) अभिषेक (लक्ष्मी), (5) माला, (6) चन्द्रमा, (7) सूर्य, (8) ध्वजा, (9) कलश, (10) पद्मसरोवर, (11) (क्षीर) सागर, (12) विमान (तीर्थङ्कर के देवगति में आने पर)/भवन (तीर्थङ्कर के नरक गति से आने पर) (13) रत्न का ढ़ेर और (14) अग्नि, ये चौदह स्वप्न सभी तीर्थंकरों की माताएँ, तीर्थंकर के गर्भ में आने पर देखती हैं।

अमरिंदनरिंदमुणिंदवंदियं, वंदिउं महावीरं।
कुसलानुबंधिबंधुरमज्झयणं कित्तइस्सामि।।9।।

अमरिंदनरिंदमुणिंदवंदियं महावीरं- [(अमर+इंद) (नरिंद) (मुणिंद) (वंदिय) (महावीर)] पुल्लिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-देवेन्द्रों, नरेन्द्रों, मुनीन्द्रों द्वारा वन्दन किये हुए महावीर को। **वंदिउं-**(वंद) हेत्वर्थक कृदन्त-वन्दन करके। **कुसलानुबंधिबंधुरमज्झयणं-** [(कुसल) (अनुबंधि) (बंधुर) (अज्झयण)] पुल्लिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-कुशल अनुबन्ध वाले रमणीय अध्ययन को। **कित्तइस्सामि-**(कित्त) भविष्यकालिक, उत्तम पुरुष एकवचन-मैं कहूँगा।

देवेन्द्रों, नरेन्द्रों, मुनीन्द्रों द्वारा वन्दन किये हुए महावीर को वन्दन करके, कुशल का अनुबन्ध कराने वाले (मोक्ष को दिलाने वाले) रमणीय अध्ययन का मैं कथन करूँगा।

चउसरणगमणं दुक्कडगरिहा, सुकडाणुमोअणा चेव।
एस गणो अणवरयं, कायव्वो कुसलहेउत्ति।।10।।

चउसरणगमणं- [(चउसरण) (गमण)] नपुंसकलिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-चार शरण स्वीकार करना। **दुक्कडगरिहा-** [(दुक्कड) (गरिहा)] नपुंसकलिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-पापकार्य की निन्दा करना। **चेव-** [(च) (एव)] अव्यय-और। **सुकडाणुमोअणा-** [(सुकड) (अणुमोअण)] नपुंसकलिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-पुण्यकार्य (सुकृत) की अनुमोदना करना। **एस गणो-** [(एस) (गण)] पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-यह (तीन) अधिकारों का समूह। **कुसलहेउत्ति-** [(कुसल) (हेउ) (त्ति)] विशेषण प्रथमा विभक्ति एकवचन-मोक्ष का कारण है, इसलिए। **अणवरयं-**(अणवरय) विशेषण-हमेशा। **कायव्वो-**(का) विधि कृदन्त, प्रथमा विभक्ति एकवचन-करने योग्य है।

चार शरण स्वीकार करना, पापकार्य की निन्दा करना और सुकृत की अनुमोदना करना, ये तीनों अधिकार मोक्ष का कारण हैं। इसलिए ये तीनों अधिकार हमेशा करने योग्य हैं।

अरिहंत-सिद्ध-साहू, केवलिकहिओ सुहावहो धम्मो।
एए चउरो चउगइहरणा, सरणं लहइ धन्नो।।11।।

अरिहंत-सिद्ध-साहू- [(अरिहंत) (सिद्ध) (साहु)] पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-अरिहन्त, सिद्ध, साधु। **केवलिकहिओ सुहावहो धम्मो-** [(केवलि-कहिअ) (सुहावह) विशेषण (धम्म)] पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-केवली द्वारा कथित सुखदायक धर्म। **एए चउरो-** [(एअ) (चउर)] पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-ये चारों। **चउगइहरणा-** [(चउ) विशेषण (गइ) स्त्रीलिङ्ग (हरण) नपुंसकलिङ्ग] प्रथमा विभक्ति, बहुवचन-चार गति को नष्ट करने वाले हैं। **धन्नो-** (धन्न) पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-भाग्यशाली। **सरणं-**(सरण) पुल्लिङ्ग द्वितीया विभक्ति एकवचन-चार शरण को। **लहइ-**(लह) वर्तमानकालिक अन्य पुरुष एकवचन-प्राप्त कर लेता है।

अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान द्वारा कहा हुआ सुखदायक धर्म, ये चारों, चार गति के नाशक हैं। भाग्यशाली व्यक्ति चार शरण को प्राप्त कर लेता है।

अह सो जिणभत्तिभरुच्छरंत-रोमंच-कुंचुअ-करालो।
पहरिसपवण-उम्मीसं, सीसंमि कयंजली भणइ।।12।।

अह-(अह) अव्यय-अब। **जिणभत्तिभरुच्छरंत-** [(जिण) (भत्तिभर) (उच्छरंत)] वर्तमानकालिक कृदन्त विशेषण पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-जिनेश्वर की भक्ति से पूरित होकर उछलती हुई। **रोमंच-कुंचुअ-करालो-** [(रोमंच) (कुंचुअ) (कराल)] विशेषण, प्रथमा विभक्ति एकवचन-रोमराजी के समान कवच से शोभायमान। **पहरिस-पवण-उम्मीसं-** [(पहरिस) (पवण) विशेषण (उम्मीस)] अकर्मक भूतकालिक कृदन्त, पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-अत्यधिक हर्ष के साथ झुका हुआ। **सीसंमि-**(सीस) पुल्लिङ्ग, सप्तमी विभक्ति एकवचन-शिर पर। **कयंजली-** [(कय) विशेषण (अंजली)] पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-हाथों को जोड़े हुए। **सो-**(त) पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-वह जीव। **भणइ-** (भण) वर्तमानकाल, अन्य पुरुष एकवचन-कहता है।

अब तीर्थंकर की भक्ति से पूरित होकर उछलती हुई रोमराजी के समान कवच से शोभायमान वह जीव अत्यधिक हर्ष के साथ शिर झुकाकर दोनों हाथ जोड़े हुए कहता है।

रागद्दोसारीणं हंता, कम्मट्ठगाइ अरिहंता।
विसय-कसायारीणं, अरिहंता हुंतु मे सरणं।।13।।

अरिहंता रागद्दोसारीणं-(अरिहन्त) पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति बहुवचन-अरिहंत। [(राग) (दोस) (अरि)] पुल्लिङ्ग, षष्ठी विभक्ति बहुवचन-राग-द्वेष रूपी शत्रुओं के। **कम्मट्ठगाइ-** [(कम्म) (अट्ठग)] नपुंसकलिङ्ग, द्वितीया विभक्ति बहुवचन-आठ कर्मों के। **विसयकसायारीणं-** [(विसय) (कसाय) (अरि)] पुल्लिङ्ग, षष्ठी विभक्ति बहुवचन-विषय-कषाय रूपी शत्रुओं के। **हंता-**(हण) विशेषण, प्रथमा विभक्ति बहुवचन-नाश करने वाले हैं। **अरिहंता-**(अरिहंत) पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति बहुवचन-अरिहन्त। **मे-**(अम्ह) सर्वनाम, चतुर्थी विभक्ति एकवचन-मेरे लिए। **सरणं-**(सरण) पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-शरण। **हुंतु-** (हुंत) विधिलिङ्ग, अन्य पुरुष बहुवचन-होवें।

अरिहन्त भगवान राग-द्वेष रूपी शत्रुओं का, आठ कर्मों का तथा विषय-

कषाय रूपी शत्रुओं का नाश करने वाले हैं। (ऐसे) अरिहन्त भगवान मेरे लिये शरण होवें।

रायसिरिमुवक्कमित्ता, तवचरणं दुच्चरं अणुचरित्ता।
केवलसिरिमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं।।14।।

अरिहंता–(अरिहंत) पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति बहुवचन-अरिहंत। **रायसिरिमुवक्कमित्ता–** [(रायसिरी) स्त्रीलिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन, (उवक्कम) सम्बन्ध कृदन्त]-राज्यश्री को छोड़कर। **दुच्चरं तवचरणं–** [(दुच्चर) विशेषण (तवचरण) नपुंसकलिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन] दुष्कर तपश्चर्या का। **अणुचरित्ता–** [(अनुचर)] सम्बन्ध कृदन्त-पालनकर। **केवलसिरिं–**(केवलसिरी) स्त्रीलिङ्ग, द्वितीया विभक्ति एकवचन-केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को (प्राप्त हुए हैं)। **अरिहंता–**(अरिहंत) पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति बहुवचन-अरिहंत। **मे–**(अम्ह) सर्वनाम, चतुर्थी विभक्ति एकवचन-मेरे लिये। **सरणं–**(सरण) पुल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति एकवचन-शरण। **हुंतु–**(हु) विधिलिङ्ग, अन्य पुरुष बहुवचन-होवें।

अरिहन्त भगवान राज्यश्री को छोड़कर दुष्कर तपश्चर्या का पालन कर केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी का वरण करने वाले हैं। (ऐसे) अरिहन्त भगवान मेरे लिये शरण होवें।

–व्याकरणिक विश्लेषण, श्री राकेश कुमार जैन

सत्तरह प्रकार का असंयम

1. पृथ्वीकाय-असंयम, 2. अप्काय-असंयम, 3. तेजस्काय-असंयम, 4. वायुकाय-असंयम, 5. वनस्पतिकाय-असंयम, 6. द्वीन्द्रिय-असंयम, 7. त्रीन्द्रिय-असंयम, 8. चतुरिन्द्रिय-असंयम, 9. पञ्चेन्द्रिय-असंयम, 10. अजीवकाय-असंयम, 11. प्रेक्षा-असंयम-उपकरण आदि की प्रतिलेखना नहीं करना या अविधि से करना, 12. उपेक्षा-असंयम-अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना और शुभ में नहीं करना, 13. अपहृत्य-असंयम-लघुनीत आदि को विधि से नहीं पठरना, 14. अप्रमार्जना-असंयम-उपकरणों की प्रमार्जना नहीं करना या अविधि से करना, 15. मनः-असंयम, 16. वचन-असंयम, 17. काय-असंयम

-समवायाङ्गसूत्र, समवाय 17

संस्कृत-खण्ड

हरिश्चन्द्रचरित्रम्

श्मशानं साम्यवादस्य मूर्तमुदाहरणम्

-पं. लक्ष्मण वासुदेव माण्डवगणे

श्रद्धेयगौतममुनिमहाभागेन पण्डितमाण्डवगणेमहाभागस्य सकाशात् संस्कृतभाषाऽध्ययनकाले जवाहराचार्यप्रणीतस्य जवाहरकिरणावल्या हरिश्चन्द्रभागस्याधारेण संस्कृतभाषायामनुवादस्य अभ्यास: कृत:। मुनिमहाभागेन कृतेऽनुवादे संशोधनं कृत्वा पण्डितमाण्डवगणेमहाभागेन इदं हरिश्चन्द्रचरित्रं सम्यग्रूपेण अनूदितम्। संस्कृतभाषाया अध्येतृणां कृते उपयुक्तमिदं हरिश्चन्द्रचरित्रं स्वाध्यायशिक्षायां क्रमशो दीयते। -सम्पादक

साम्यवाद का मूर्त उदाहरण-'श्मशान'

तारामती पुनरचिरादेव संज्ञां प्राप्योच्चैस्तरां विललाप। अत्रान्तरे कच्चित् सज्जनस्तत्र प्राप। पीयूषमय्यां सज्जनवाण्यामेतादृशी अलौकिकी शक्तिर्वर्तते। यया सज्जना: संसारस्याऽसह्यं दु:खातिशयमपि सुसह्यं विदधते। निराशायामप्याशां विपत्तावपि च सम्पत्तिं संचारयन्ति। स सज्जनस्तारामती-मेवमुपादिशत्। देवि तारामति! महदाश्चर्यमिदं यत् त्वादृशी सत्यव्रतधारिण्यपि पुत्रशोकविह्वला रोदिति। शरीरमिदमशाश्वतं क्षणभङ्गुरं विनाशि च विद्यते। यदर्थं त्वं विलपसि। विनष्टे चाऽस्मिन् शरीरे त्वं स्वामिन आज्ञोल्लङ्घनपापभाग् भविष्यसि। अतो धैर्यमवलम्ब्य पुत्रस्यान्त्येष्टिं कुरुष्व। अस्यां विपन्नावस्थायां तारामतीं समाश्वासयितुमपि कोऽपि नाऽऽसीत्। अन्त्यसंस्कारार्थं धनमपि तस्या: सविधे नाऽभवत् एतावदेव न, किन्तु तादृश: कोऽपि सहायकोऽपि नाऽऽसीत्। यो रोहितशवं श्मशानं प्रापयितुं तारामत्यै मार्गं दर्शयेत्।

तारामती पुन: शीघ्र ही चेतना को प्राप्त करके उच्चस्वर में विलाप करने लगी। इसी बीच कोई सज्जन वहाँ आया। अमृतमयी सज्जन की वाणी में ऐसी अलौकिक शक्ति है, जिस शक्ति से सज्जन लोग संसार के असहनीय दु:ख को भी सहनीय कर देते हैं। निराशा में भी आशा और विपत्ति में सम्पत्ति का संचार कर देते हैं। उस सज्जन ने भी तारामती को ऐसा ही उपदेश दिया। हे देवी तारामती ! यह महान् आश्चर्य है कि आप जैसी सत्यव्रत धारण करने वाली भी पुत्र के शोक में विह्वल बनी

हुई रो रही है। यह शरीर अशाश्वत, क्षणभंगुर और विनाशी है जिसके लिए तुम विलाप कर रही हो। इस शरीर के विनष्ट होने पर तुम स्वामी की आज्ञा के उल्लंघन के पाप की भागी बन जाओगी। अब धैर्य का अवलम्बन लेकर पुत्र की अन्त्येष्टि करो। इस विपन्न अवस्था में तारामती को आश्वासित करने के लिए कोई भी नहीं था। अन्त्य संस्कार के लिए धन भी उसके पास में नहीं था। इतना ही नहीं किन्तु ऐसा कोई सहायक भी नहीं था, जो रोहित के शव को श्मशान में ले जाने के लिए तारामती को मार्ग दिखा सके।

अतो भो सज्जना:! यद्धनमाश्रित्य यूयं गर्व कुरुथ तद्धनं न शाश्वतिकं क्षणभङ्गुरमस्ति। तदर्थं किमर्थमन्यायं कुरुथ। किमर्थं मुह्यथ। संसारे तदेव सर्वातिशायि, इति किमिति मन्यध्वे। तदेव धनं सार्थकं यत्सुकृतेन विघ्नात् तारयति। यदि हरिश्चन्द्रस्य राज्यं नृपाभियोगविनष्टमभविष्यत् तर्हि स ध्रुवमेवाऽन्वतप्स्यत्। परं स तद्राज्यं विश्वामित्राय दानमयच्छत्। तेन स सुतरां सन्तोषभागाऽऽसीत्। श्मशानमार्गमप्यजानती द्रव्यहीना सा कथमपि धैर्यमवलम्ब्य रोहितशवं स्कन्धे कृत्वा मृतकानां शवानादाय गच्छतां जनानां मार्गमनुसृत्याऽचलत्। शवमादाय सा कथं कथमपि श्मशानं निकषा प्राप। परमग्निसंस्कारार्थं काष्ठानि क्रेतुं धनाभावात् सा पुत्रशवं भूमौ निधाय मुक्तकण्ठं विललाप। वत्स! अद्येयं तवाऽभागिनी माता घोरतरदैवदुर्विपाकात् तवान्त्येष्टिं कर्तुं काष्ठान्यपि क्रेतुं न शक्नोति। मया जन्मान्तरे किं दारूणं कर्म (पापं) कृतं यत्फलतयाऽहं पुत्रस्येमां दुर्दशां पश्यामीति।

इसलिए हे सज्जनो! जिस धन का आश्रय करके तुम गर्व करते हो, वह धन शाश्वत नहीं है और क्षणभंगुर है। उस धन के लिए क्यों अन्याय करते हो। किसलिए मोहित होते हो। संसार में वह धन ही सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा क्यों मानते हो। वह धन ही सार्थक है जो सुकृतों के द्वारा विघ्नों को पार करा देता है। यदि हरिश्चन्द्र का राज्य राजा के अभियोग से विनष्ट हो जाता तो वह निश्चय ही अनुताप को प्राप्त करता लेकिन उसने उस राज्य को विश्वामित्र को दान दे दिया जिससे वह अत्यन्त सन्तोष का भागी हो गया। श्मशान के मार्ग को नहीं जानती हुई, धनरहित वह तारामती जैसे-तैसे भी धर्म का अवलम्बन लेकर रोहित के शव को अपने कन्धे पर लेकर मृतकों के शवों को लेकर जाने वाले लोगों के मार्ग का अनुसरण करके चलने लगी। शव को

लेकर वह कैसे भी श्मशान के नजदीक पहुँची। लेकिन अग्नि संस्कार के लिए लकड़ी खरीदने के लिए धन के अभाव के कारण वह पुत्र के शव को भूमि पर रखकर मुक्तकण्ठ से विलाप करने लगी। हे वत्स! आज यह तुम्हारी अभागिनी माता भाग्य के अत्यन्त दुर्विपाक से तुम्हारी अन्त्येष्टि करने के लिए लकड़ी भी खरीदने को समर्थ नहीं है। मैंने पूर्वजन्म में ऐसे कौनसे भयंकर पापकर्म किये थे जिसके फलस्वरुप मैं पुत्र की इस दुर्दशा को देख रही हूँ।

अमावस्याया अन्धतमसावृतायां सर्वत: श्यामवर्णघनघटाच्छादितायां प्रकीणीरवतया नितरां भयावहायां तस्यां तमस्विन्यां स्थाने स्थाने विकीर्णनर कपालास्थिनि श्रूयमाणगृध्रवीभत्सारावे महाभयङ्करे श्मशाने अर्धनग्न एव पीनोन्नतशरीररश्चिताग्नि–समुत्थितधूमधूसरवर्णो विकीर्णशिरोरुहो रुक्षकूर्चो दण्डपाणि: कच्चित्पुरुष: इतस्तत: समाचरन् अदृश्यत। स नाऽपर: कश्चिन्नर: किन्तु स्वामिन आज्ञां शिरोधार्यां कृत्वा श्मशानस्य रक्षां कुर्वन् महाराजो हरिश्चन्द्र आसीत्।

अमावस्या की अन्धकार से व्याप्त चारों ओर काले बादलों की घटाओं से आच्छादित विचित्र आवाजों से अत्यन्त भयावह उस रात्रि में स्थान–स्थान पर फैले हुए मनुष्यों के कपालों की हड्डियाँ तथा सुने जा रहे गिद्धों के वीभत्स आवाजों वाले महाभयंकर श्मशान में अर्द्धनग्न जैसे एक इधर–उधर घूमते हुए पुरुष को देखा, वह पुरुष पुष्ट व ऊँचे शरीर वाला, चिता की अग्नि से उठने वाले धूएँ से धूसरित वर्ण वाला, बिखरे हुए बालों वाला, रुक्ष दाढ़ी वाला, हाथ में दण्ड लिए हुए था। वह कोई दूसरा नर नहीं था किन्तु स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य करके श्मशान की रक्षा करते हुए महाराज हरिश्चन्द्र थे।

एकाक्येवेतस्तत: सञ्चरन् स मनस्येवं व्यचारयत्–विशरणशीलं शरीरमन्तेऽग्नौ भस्मसात् भवति। काकगृध्रादीनां पक्षिणां कुक्कुरादीनां पशूनां वाऽशनं भवति। नरो यया कान्त्याऽऽत्मानमभिमन्यते। सा कान्तिरपि चितायामग्निना दह्यते। न ज्ञायते कियन्तो नरा असमापितमन:कामना अत्रागत्य चितायां तूष्णीं तिष्ठन्ति। श्मशानं सत्यमेव साम्यवादस्य मूर्तमुदाहरणम्। अत्र दीनेषु दीनतमा: सम्पन्नेषु सम्पन्नतमा अपि नरा एकमैवावतिष्ठन्ते। एवं स्थितेऽपि संसारिणो नरा न शरीरस्यानित्यतां विचारयन्ति। शतशो जना

आत्मनः प्रियतरमपि स्वजनमत्राऽऽनीयाऽग्नौ प्रज्वालयन्ति सोरस्ताडं चाऽऽक्रन्दन्ति। तावदेव विरागमपि प्रदर्शयन्ति यावत् चिताग्निः प्रशान्तो न भवति। प्रशान्ते च चिताग्नौ पुनरपि सर्वं विस्मृत्य हासप्रहासविलासादौ मग्ना भवन्ति। अचिरादेव सर्वं विस्मरन्ति। नैतदपि स्मरन्ति यदेकस्मिन् दिने ममाप्यन्तिमं शयनं चितायां भविष्यति। शरीरं चाऽग्निना भस्मसात् करिष्यते। इति।

अकेला ही इधर-उधर घूमता हुआ वह मन में ही विचार करने लगा-नष्ट होने के स्वभाव वाला यह शरीर अन्त में अग्नि में भस्मसात् होता है। अथवा काक, गृद्ध आदि पक्षियों तथा कुत्ते आदि पशुओं का भोजन होता है। मनुष्य जिस कान्ति से अपने आपको विशेष मानता है, वह कान्ति भी चिताओं में अग्नि के द्वारा जलायी जाती है। न जाने कितने लोग जिनकी मनोकामना पूर्ण नहीं हुई है यहाँ आकर चिता में चुपचाप अवस्थित रहते हैं। श्मशान सच में ही साम्यवाद का मूर्त उदाहरण है। यहाँ दीनों में दीनतम, सम्पन्नों में सम्पन्नतम मनुष्य भी एक स्थान पर ही रहते हैं। ऐसा होने पर भी संसारी लोग शरीर की अनित्यता का विचार नहीं करते हैं। सैकड़ों लोग अपने प्रियतम जनों को यहाँ लाकर अग्नि में जला देते हैं और जोर-जोर से आक्रन्दन करते हैं। तब तक ही विराग को दिखाते हैं जब तक चिता की अग्नि शान्त नहीं होती। चिता की अग्नि के शान्त होने पर पुनः सबको भूलकर हास्य, प्रहास्य व विलासादि में मग्न हो जाते हैं। शीघ्र ही सब कुछ भूल जाते हैं। यह भी स्मरण नहीं रखते कि एक दिन मेरा भी अन्तिम शयन चिता पर ही होगा। और शरीर अग्नि से भस्मसात् कर दिया जायेगा।

श्मशानभूमिमागत्य चितायां ज्वलन्तं प्रेतमवलोक्य मनुष्यस्य हृदये उत्पद्यमाना वैराग्यभावना यद्यनिशं स्थिता स्यात् तर्हि मनुष्यः क्षणभङ्गुरेण शरीरेणाऽपि बहूनि सुकृतानि कर्तुं शक्नुयात्। भो श्मशान! त्वमत्रागतेभ्यो यां शिक्षां ददासि तां यदि नरः सदैव हृदये धारयेत् तर्हि जीवन्मुक्तः स्यात्। तव सद्मनि चाण्डालनृपयोर्दरिद्रधनिकयोर्विना भेदभावं समानमेव स्थानमस्ति। भो श्मशान! यदि नरस्त्वादृशः समदृष्टिर्भवेत् तर्हि तस्याऽस्मिन् संसारे पुनरपि जन्मग्रहणस्यावश्यकतैव न स्यात्। परं चेतनावानपि नरः चैतत्सम्यक्तया मनसि धारयति। तेन स पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनस्य दुष्टचक्रे समापतितस्तव शरणमागच्छति।

श्मशान भूमि में आकर चिता पर जलते हुए शव को देखकर मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होने वाली वैराग्य-भावना यदि हमेशा स्थित रहेगी तो मनुष्य क्षणभंगुर शरीर से भी बहुत से सुकृतों को करने में समर्थ हो सकेगा। हे श्मशान! यदि तुम यहाँ आने वालों को जो शिक्षा देते हो उसको यदि मनुष्य सदैव अपने हृदय में धारण करे तो जीवनमुक्त हो जाय। तुम्हारे भवन में चाण्डाल और नृप का तथा दरिद्र और धनिक का बिना भेदभाव के समान ही स्थान है। हे श्मशान! यदि मनुष्य तुम्हारे समान समदृष्टि हो जाय तो उसको इस संसार में पुन: जन्म ग्रहण की आवश्यकता ही नहीं होगी। लेकिन चेतनावान् मनुष्य भी यह सम्यक् प्रकार से मन में धारण नहीं करता। इसलिए वह पुन: जन्म और पुन: मरण और पुन: माता के उदर में शयन के दुष्चक्र में गिरते हुए तुम्हारी शरण में आता है।

(क्रमश:)

अनुवादक-प्रकाशचन्द जैन

साधु के औपचारिक विनय

1. अभ्यासन-वैयावृत्त्य के योग्य व्यक्ति के पास बैठना।
2. छन्दोऽनुवर्तन-उसके अभिप्राय के अनुकूल कार्य करना।
3. कृतिप्रतिकृति-'प्रसन्न हुए आचार्य हमें सूत्र आदि देंगे' इस भाव से उनको आहार आदि देना।
4. कारितनिमित्तकरण-पढ़े हुए शास्त्रपदों का विशेष रूप से विनय करना और उनके अर्थ का अनुष्ठान करना।
5. दु:ख से पीड़ित की गवेषणा करना।
6. देश-काल को जानकर तदनुकूल वैयावृत्त्य करना।
7. रोगी के स्वास्थ्य के अनुकूल अनुमति देना।

-समवायाङ्गसूत्र, समवाय 91

हिन्दी-खण्ड

समवायाङ्गसूत्र-एक परिचय

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा.

द्वादशाङ्गी के क्रम में समवायाङ्गसूत्र का चौथा स्थान है। इसमें कोटाकोटि-समवाय के पश्चात् जो द्वादशांगी का परिचय दिया गया है, उसमें और नन्दीसूत्र में समवायाङ्ग का परिचय निम्नलिखित रूप में उल्लिखित है-

'समवायाङ्ग की परिमित वाचनाएँ, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ़ा (छन्दविशेष), संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ, संख्यात प्रतिपत्तियाँ, एक श्रुतस्कन्ध, एक अध्ययन, एक उद्देशनकाल, एक ही समुद्देशनकाल, 1,44,000 पद और संख्यात अक्षर हैं। इसकी वर्णनपरिधि में अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर और जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित भावों का वर्णन, प्ररूपण, निदर्शन और उपदेश आता है।'

समवायाङ्ग का वर्तमान में उपलब्ध पाठ 1667 श्लोक-परिमाण है। इसमें संख्याक्रम से संग्रह की प्रणाली के माध्यम से पृथ्वी, आकाश और पाताल-इन तीनों लोकों के जीवादि समस्त तत्त्वों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से संख्या एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या तक बड़ा महत्त्वपूर्ण परिचय दिया गया है। इसमें आध्यात्मिक तत्त्वों, तीर्थंकरों, गणधरों, चक्रवर्तियों और वासुदेवों से सम्बन्धित उल्लेखों के साथ-साथ भूगर्भ, भूगोल, खगोल-सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एवं तारों आदि के सम्बन्ध में बड़ी ही उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की गई है।

स्थानाङ्ग की तरह समवायाङ्ग में भी संख्या के क्रम से तथा कहीं-कहीं उस प्रणाली को छोड़कर वस्तुओं के भेदोपभेद का वर्णन किया गया है। समवायाङ्गसूत्र की प्रत्येक समवाय में समान संख्या वाले भिन्न-भिन्न विषयों एवं वस्तुओं से सम्बन्धित सामग्री का संकलनात्मक संग्रह होने के कारण विषयानुक्रम से इसका परिचय दिया जाना सम्भव नहीं है अत: मोटे रूप में समवाय के क्रम को दृष्टिगत रखते हुए इसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

समवायाङ्ग में द्रव्य की अपेक्षा से (1) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश

आदि का, (2) क्षेत्र की अपेक्षा से लोक, अलोक, सिद्धशिला आदि का, (3) समय, आवलिका, मुहूर्त्त आदि से लेकर पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और पुद्गलपरावर्तन आदि काल की अपेक्षा से देवों, मनुष्यों, तिर्यचों और नारक आदि जीवों की स्थिति आदि का तथा (4) भाव की अपेक्षा से ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि जीव-भाव और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, गुरु, लघु आदि अजीव-भाव का वर्णन किया गया है।

समवायाङ्ग के पहले समवाय में एक संख्या वाले जीव, अजीव आदि तत्त्वों का उल्लेख करते हुए आत्मा, लोक, धर्म, अधर्म आदि को संग्रह नय की अपेक्षा से एक-एक बताया गया है। इसके पश्चात् एक लाख योजन की लम्बाई-चौड़ाई वाले जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्ध विमान, एक तारा वाले नक्षत्र, एक सागर की स्थिति वाले नारक, देव आदि का, असंख्य वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रियों एवं मनुष्यों आदि का विवरण दिया गया है।

दूसरे समवाय में अर्थदण्ड एवं अनर्थदण्ड दो प्रकार के दण्ड, रागबन्ध एवं द्वेषबन्ध दो प्रकार के बन्ध इस रूप में दो संख्या वाली वस्तुओं का उल्लेख करते हुए अन्त में कुछ भवसिद्धिकों की दो भव से मुक्ति होना बताया गया है।

तीसरे समवाय में मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड-ये तीन दण्ड, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति-तीन प्रकार की गुप्ति, तीन प्रकार के शल्य, तीन प्रकार के गौरव और तीन प्रकार की विराधना का उल्लेख करने के पश्चात् उन नक्षत्रों के नाम दिये गये हैं जिनमें तीन-तीन तारे हैं। इसके अनन्तर प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नरक के नारकीयों, असुरकुमारों, भोगभूमि के संज्ञी पंचेन्द्रियों, सौधर्म, ईशान देवलोकों के कुछ देवों एवं आभंकर आदि 14 विमानों के देवों की स्थिति का वर्णन किया गया है। इस समवाय के अन्त में बताया गया है कि उपर्युक्त 14 विमानों में उत्पन्न होने वाले उन देवों में से कुछ देव तीन भव करने के पश्चात् शाश्वत मोक्षसुख को प्राप्त करेंगे।

चौथे समवाय में कषाय, ध्यान, विकथा, संज्ञा, बन्ध के चार-चार भेद, योजन का परिमाण और चार तारों वाले नक्षत्रों का उल्लेख करने के पश्चात् चार पल्योपम और चार सागरोपम की आयु वाले नारक, देव आदि का नामोल्लेख किया गया है।

पाँचवें समवाय में क्रिया, महाव्रत, कामगुण, आस्रवद्वार, संवरद्वार, निर्जरास्थान,

समिति और अस्तिकाय-इनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेदों का निरूपण किया गया है। तदनन्तर पाँच तारों वाले नक्षत्र, पाँच पल्योपम, पाँच सागरोपम की आयु वाले नारक, देव आदि का उल्लेख किया गया है।

छठे समवाय में लेश्या, जीवनिकाय, बाह्य तप, आभ्यन्तर तप, छाद्मस्थिक समुद्घात एवं अर्थावग्रह-इन सब के छह-छह प्रकारों का नामाल्लेख करने के पश्चात् कृत्तिका तथा आश्लेषा नक्षत्र को छह-छह तारों वाला बताया गया है। इस समवाय में यह भी बताया गया है कि रत्नप्रभा पृथिवी में कतिपय नारकीयों की स्थिति छह पल्योपम, तृतीय पृथ्वी में कतिपय नारकीयों की स्थिति छह सागरोपम, असुरकुमार देवों में से कतिपय देवों की स्थिति 6 सागरोपम, सौधर्म और ईशानकल्प के कुछ देवों की स्थिति 6 पल्योपम तथा सनत्कुमार एवं माहेन्द्रकल्प के कितने ही देवों की स्थिति छह सागरोपम होती है। इस समवाय के अन्त में बताया गया है कि स्वयंभू, स्वयंभूषण, घोष, सुघोष आदि बीस विमानों के देवों की उत्कृष्ट स्थिति छह सागरोपम की होती है। इन विमानों के देव 6 अर्धमासों के अन्त में बाह्य तथा आभ्यन्तर उच्छ्वास ग्रहण करते हैं। उन्हें छह हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उन देवों में कतिपय देव 6 भवों में सिद्धि प्राप्त करने वाले हैं।

सातवें समवाय में सात प्रकार के भयस्थान एवं सात ही प्रकार के समुद्घात का उल्लेख करने के पश्चात् उल्लेख है कि श्रमण भगवान महावीर का शरीर सात रत्नि (मुंड हाथ) प्रमाण ऊँचा था। जम्बूद्वीप में सात वर्षधर और सात ही क्षेत्र हैं। बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग भगवान मोहनीय कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मप्रकृतियों का अनुभव करते हैं। मघा नक्षत्र 7 तारों वाला है। कृत्तिका आदि सात नक्षत्र पूर्वद्वार वाले, मघा आदि सात नक्षत्र दक्षिण द्वार वाले, अनुराधा आदि सात नक्षत्र पश्चिम द्वार वाले और घनिष्ठा आदि 7 नक्षत्र उत्तर द्वार वाले बताये गये हैं। इस समवाय में नारकीयों असुरकुमारों और देवों में से कतिपय की आयु 7 पल्योपम और कतिपय की उत्कृष्ट आयु 7 सागरोपम की बताने के पश्चात् यह उल्लेख भी किया गया है कि सम, समप्रभ आदि आठ विमानों के कतिपय देव सात भवों में सिद्ध होने वाले हैं।

आठवें समवाय में 8 मदस्थान और आठ प्रवचनमाताओं के नामोल्लेख के पश्चात् बताया गया है कि व्यन्तरदेवों के चैत्यवृक्षों, जम्बूद्वीप की जगती और देवकुरुक्षेत्र स्थित गरुड़ जातीय वेणुदेव के आवास की ऊँचाई आठ योजन है। इसमें

आठ समय के केवलिसमुद्घात का विवरण देते हुए बताया गया है कि प्रथम समय में वे दण्ड, द्वितीय समय में कपाट और तीसरे समय में मंथान करते हैं। चतुर्थ समय में वे मंथान के छिद्रों को पूरित, पाँचवें समय में उन छिद्रों को संकुचित और छठे समय में मंथान को प्रतिसंहरित करते हैं। सातवें समय में कपाट को और आठवें समय में दण्ड को संकोचते हैं और तदनन्तर वे पुन: स्वशरीरस्थ हो जाते हैं। इस समवाय में भगवान पार्श्वनाथ के 8 गण और 8 गणधरों के उल्लेख के पश्चात् यह बताया गया है कि जब चन्द्रमा कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा इन आठ नक्षत्रों के साथ रहता है तब प्रमर्द नाम का योग होता है। इस समवाय में कुछ नारकीयों, असुरकुमारों और देवों की मध्यम स्थिति 8 पल्योपम की और उत्कृष्ट स्थिति 8 सागरोपम की बताने के पश्चात् यह उल्लेख किया गया है कि अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन आदि 11 विमानों के देवों में से कतिपय देव आठ भवों में सिद्धि प्राप्त करने वाले हैं।

नौवें समवाय में 9 ब्रह्मचर्यगुप्तियों, 9 अब्रह्मचर्यगुप्तियों, आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के 9 अध्ययनों के नामोल्लेख के पश्चात् बताया गया है कि भगवान पार्श्वनाथ के शरीर की ऊँचाई 9 रत्नि (मुण्ड हाथ) थी। इसमें तारामण्डल को रत्नप्रभा पृथिवी के समभाग से 900 योजन दूरी पर बताया गया है। इसमें जम्बूद्वीप की जगती में 9 योजन के छेदों के उल्लेख के साथ यह भी बताया गया है कि 9 योजन की लम्बार्द-चौड़ाई के मच्छ लवणसमुद्र में से जम्बूद्वीप में पहले भी आये हैं, आते हैं और आते रहेंगे। इस समवाय में जम्बूद्वीप सम्बन्धी विजयद्वार के पार्श्व में नौ-नौ भोमों, व्यन्तरों की सुधर्मसभा की ऊँचाई 9 योजन, दर्शनावरणीय कर्म की 9 उत्तरप्रकृतियों और कतिपय नारकीयों, असुरकुमारों, देवों की मध्यम स्थिति 9 पल्योपम और उत्कृष्ट स्थिति 9 सागरोपम होने का उल्लेख है। इसमें यह भी बताया गया है कि पक्ष्म, सुपक्ष्म, पक्ष्मावर्त आदि 35 विमानों के देवों में से कतिपय देव 9 भवों में अजरामर मोक्षपद को प्राप्त कर लेंगे।

10वें समवाय में ज्ञानवृद्धि के मृगशिरा, आर्द्रा, पुष्य, पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वा आषाढ़ा, पूर्वा भाद्रापदा, मूला, आश्लेषा, हस्त और चित्रा-इन 10 नक्षत्रों का उल्लेख किया गया है।

11वें समवाय में 11 उपासक पडिमाओं का उल्लेख है तथा लोकान्त से

ज्योतिषचक्र का अन्तर 1111 योजन बताया गया है।

12वें समवाय में 12 भिक्षु प्रतिमाओं, श्रमणों के 12 प्रकार के व्यवहार-संभोग एवं रामबलदेव की 1200 वर्ष की आयु आदि का उल्लेख है।

13वें समवाय में विलुप्त हुए प्राणायुपूर्व की 13 वस्तु और 13 प्रकार के चिकित्सा स्थान आदि का निरूपण किया गया है।

14वें समवाय में 14 प्रकार के भूतग्राम-जीवसमूह, अग्रायणी पूर्व की 14 वस्तुओं, भगवान महावीर की 14,000 उत्कृष्ट श्रमण सम्पदा, 14 जीवस्थान मिथ्यात्व आदि का उल्लेख है।

15वें समवाय में राहु द्वारा कृष्ण पक्ष में नित्य प्रति चन्द्र के 15वें भाग का आवरण, अमावस्या को पूरे 15 ही भागों का आवरण और इसी क्रम से शुक्ल पक्ष में अनावरण करना बताया गया है। इसमें विलुप्त हुए विद्यानुप्रवादपूर्व की 15 वस्तुओं का भी उल्लेख है।

16वें समवाय में आत्मप्रवाद पूर्व की 16 वस्तुओं का, शुक्र ग्रह का 16 नक्षत्रों के साथ भ्रमण करना और पश्चिम में अस्त होना, 17वें में 17 प्रकार के मरण का, 18वें में अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व की 18 वस्तुओं का, श्रमण निर्ग्रन्थों के 18 स्थानों आदि का तथा 19 तीर्थंकरों का गृहस्थवास में रहकर दीक्षित होना बताया गया है। 20वें में प्रत्याख्यान पूर्व की 20 वस्तुओं तथा 21वें में 21 प्रकार के दोषों का उल्लेख किया गया है।

22वें समवाय में दृष्टिवाद के 22 सूत्र छिन्नछेद नय वाले, 22 सूत्र आजीविक की अपेक्षा अछिन्नछेद नय सम्बन्धी, 22 सूत्र वैराशिक सूत्र की परिपाटी से और 22 सूत्र चतुर्नयिक स्वसमय सूत्र की दृष्टि वाले कहे गये हैं।

23वें समवाय में भगवान अजितनाथ आदि 23 तीर्थंकर पूर्वभव में एकादशांगधर और माण्डलिक राजा बताये गये हैं। 24वें में ऋषभ आदि 24 देवाधिदेव कहे गये हैं। 25वें में पाँच महाव्रतों की 25 भावनाओं और आचाराङ्ग के 25 अध्ययन आदि का उल्लेख किया गया है। 26वें में अभव्य के मोह की 26 प्रकृतियाँ सत्ता में मानी गई हैं। 27वें में साधु के 27 गुण आदि का वर्णन किया गया है। 28वें में मोहकर्म की 28 प्रकृतियों और मतिज्ञान के 28 भेद आदि का वर्णन है। 29वें में 29 पापश्रुत तथा

आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख-ये छह मास 29 दिन के बताये गये हैं।

30वें समवाय में महामोह-बन्ध के 30 कारण, तीस मुहूर्त्त के 30 नाम और मण्डित पुत्र गणधर का तीस वर्ष का दीक्षाकाल आदि बताया गया है। 31वें में सिद्धों के 31 गुण आदि का वर्णन किया गया है। 32वें में 32 योगसंग्रह और 32 देवेन्द्र आदि बताये गये हैं।

33वें समवाय में गुरु की 33 प्रकार की आशातना आदि, 34वें में तीर्थंकर के 34 अतिशय और 35वें में तीर्थंकर की वाणी के 35 अतिशयों (नाम नहीं) का उल्लेख किया गया है। 36वें में उत्तराध्ययनसूत्र के 36 अध्ययन आदि, 37वें में कुंथुनाथ स्वामी के 37 गण और गणधर आदि, 38वें समवाय में पार्श्वनाथ की 38,000 आर्यिकाएँ आदि, 39वें में नमिनाथ के 3900 अवधिज्ञानी, समय क्षेत्र में 39 कुलपर्वत आदि, 40वें में अरिष्ठनेमि की 40,000 आर्यिकाएँ आदि, 41वें में नमिनाथ की 41,000 आर्यिकाएँ आदि और 42वें समवाय में श्रमण भगवान महावीर के 42 वर्ष भेद-गति, जाति आदि का उल्लेख किया गया है।

43वें समवाय में कर्मविपाक के 43 अध्ययन आदि, 44वें में ऋषिभाषित के 44 अध्ययन आदि और 45वें में मनुष्यक्षेत्र, सीमंतक, नरकावास उडुविमान और सिद्धशिला इन चारों में से प्रत्येक को 45 लाख योजन विस्तार वाला बताया गया है।

46वें समवाय में दृष्टिवाद के 46 मातृकापद और ब्राह्मीलिपि के 46 मातृकाक्षर बताये गये हैं। 47वें में स्थविर अग्निभूति के 47 वर्ष तक गृहवास में रहने का उल्लेख है। 48वें में चक्रवर्ती के 48,000 पाटण और भगवान धर्मनाथ के 48 गण एवं 48 गणधर बताये गये हैं। 49वें में तीन इन्द्रिय वाले जीवों की 49 अहोरात्र की स्थिति आदि, 50वें में भगवान मुनिसुव्रत की 50,000 आर्यिकाएँ, 51वें में नवब्रह्मचर्य अध्ययन के 51 उद्देशनकाल और 52वें समवाय में मोहनीय के 52 नाम आदि का उल्लेख है।

53वें समवाय में श्रमण भगवान महावीर के 53 साधुओं के एक वर्ष की दीक्षा से अनुत्तर विमान में जाने का उल्लेख है। 54वें में बताया गया है कि भरत तथा ऐरवत में क्रमश: 54-54 उत्तम पुरुष हुए, अरिष्टनेमि 54 रात्रि छद्मस्थ रहे और अनन्तनाथ के 54 गणधर थे। 55वें में बताया गया है कि भगवान मल्लिनाथ 55000 वर्ष आयु

पूर्णकर सिद्ध हुए। 56वें में विमलनाथ के 56 गण एवं 56 गणधर बताने के साथ-साथ 56 संख्या वाले अनेक तथ्यों का उल्लेख किया गया है।

57वें समवाय में मल्लिनाथ के 570 मन:पर्यवज्ञानी, 58वें में ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय-इन पाँच कर्मों की 58 उत्तरप्रकृतियाँ होने का उल्लेख है। 59वें में बताया गया है कि चन्द्र संवत्सर में एक ऋतु 59 अहोरात्र की होती है। 60वें में सूर्य का 60 मुहूर्त्त तक एक मण्डल में रहना बताया गया है।

61वें समवाय में एक युग के 61 ऋतुमास कहे गये हैं। 62वें में भगवान वासुपूज्य के 62 गण और 62 ही गणधर बताये गये हैं। 63वें में भगवान ऋषभदेव के 63 लाख पूर्व तक राज्य सिंहासन पर रहने के पश्चात् दीक्षित होने का उल्लेख है। 64वें में चक्रवर्ती की ऋद्धि में अमूल्य अलभ्य मणिरत्नादि के 64 हारों का उल्लेख है। 65वें में बताया गया है कि गणधर मौर्यपुत्र 65 वर्ष तक गृहवास में रहने के पश्चात् दीक्षित हुए। 66वें में उल्लेख है कि भगवान श्रेयांसनाथ के 66 गण और 66 गणधर थे तथा मतिज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति 66 सागर की होती है। 67वें में बताया गया है कि एक युग में नक्षत्रमास की गणना से 67 मास होते हैं। 68वें में उल्लेख है कि धातकीखण्ड द्वीप में चक्रवर्ती की 68 विजय (प्रदेश), 68 राजधानियाँ और उत्कृष्टत: 68 ही अरिहन्तादि उत्तम पुरुष होते हैं तथा भगवान विमलनाथ के 68000 साधु थे। 69वें में बताया गया है कि मनुष्यलोक में मेरु को छोड़कर 69 वर्ष और 69 वर्षधर पर्वत हैं। 70वें में उल्लेख है कि श्रमण भगवान महावीर ने वर्षावास के 1 मास और बीस रात्रि बीतने और 70 रात्रि दिन शेष रहने पर पर्युषण किया तथा भगवान पार्श्वनाथ 70 वर्ष संयम-पालन कर सिद्ध-मुक्त हुए।

71वें समवाय में यह बताया गया है कि भगवान अजितनाथ और सगर चक्रवर्ती 71 लाख पूर्व तक गृहवास में रहकर दीक्षित हुए। 72वें में श्रमण भगवान महावीर और उनके गणधर अचल भ्राता की 72 वर्ष की आयु बताई गई है। इसमें चक्रवर्ती के 72000 नगर होने का तथा 72 कलाओं का भी उल्लेख किया गया है। 73वें में बताया गया है कि विजय नामक बलदेव 73 लाख पूर्व आयु पूर्णकर सिद्ध हुए। 74वें में गणधर अग्निभूति द्वारा 74 वर्ष के आयुभोग के पश्चात् सिद्ध होने का उल्लेख है। 75वें में भगवान सुविधिनाथ के 7500 केवली, शीतलनाथ के 75 लाख पूर्व और भगवान शान्तिनाथ के 75 हजार वर्ष गृहवास का उल्लेख है। 76वें में विद्युत्कुमार

आदि के 76-76 भवन बताये गये हैं। 77वें में भरती चक्रवर्ती के 77 लाख पूर्व कुमारावस्था में रहने के पश्चात् महाराज पद पर आरूढ़ होने तथा अंगवंश के 77 राजाओं के दीक्षित होने का उल्लेख है। 78वें में बताया गया है कि गणधर अकम्पित 78 वर्ष की आयु भोग कर सिद्ध हुए। 79वें बताया गया है कि छठी नरक के मध्य भाग से छठी घनोदधि के नीचे के चरमान्त का अन्तर 79 हजार योजन है। 80वें में भगवान श्रेयांसनाथ, त्रिपृष्ठ वासुदेव और अचल राम की 80 धनुष ऊँचाई का और त्रिपृष्ठ वासुदेव के 80 लाख वर्ष तक महाराज पद पर रहने का उल्लेख है।

81वें समवाय में भगवान कुंथुनाथ के 8100 मन:पर्यवज्ञानी बताये गये हैं। 82वें समवाय में उल्लेख है कि 82 रात्रियाँ बीतने पर देवानन्दा के गर्भ का साहरण किया गया। 83वें में यह बताया गया है कि भगवान शीतलनाथ के 83 गण और 83 गणधर, स्थविर मण्डित के 83 वर्ष की आयु पूर्णकर सिद्ध होने तथा भरत चक्रवर्ती के 83 लाख पूर्व गृहवास में रहकर केवली होने का उल्लेख है। 84वें में सातों नारक पृथ्वियों के 84 लाख नरकावासों, भगवान ऋषभदेव की 84 लाख पूर्व की आयु, भगवान श्रेयांसनाथ द्वारा 84 लाख वर्ष का आयु पूर्णकर सिद्ध होने और त्रिपृष्ठ वासुदेव के 84 लाख वर्ष की आयु के उपभोग के अनन्तर सातवीं नरक के अप्रतिष्ठान नामक नरकावास में जाने का उल्लेख है। इसमें यह भी बताया गया है कि पूर्व से लेकर शीर्ष प्रहेलिका तक की संख्याओं में परवर्ती संख्या अपनी पूर्ववर्तिनी संख्या से 8 गुणा अधिक होती है। इसमें भगवान ऋषभदेव के 84 गण, 84 गणधर और 84000 साधु बताये गये हैं। 85वें में आचाराङ्ग के उद्देशनकाल बताये गये हैं। 86वें में भगवान सुविधिनाथ के 86 गण और 86 गणधर तथा भगवान सुपार्श्वनाथ के 8600 वादी बताये गये हैं। 87वें में आठ कर्मों में से प्रथम और अन्तिम को छोड़कर शेष छह कर्मों की 87 उत्तर प्रकृतियाँ बताई गई हैं। 88वें में प्रत्येक सूर्य तथा चन्द्र के साथ 88-88 महाग्रह बताये गये हैं। 89वें में तीसरे आरे के 89 पक्ष शेष रहने पर भगवान ऋषभदेव के मोक्ष पधारने, दसवें हरिषेण चक्रवर्ती के 89 हजार वर्ष चक्रवर्ती पद पर रहने और भगवान शान्तिनाथ की 89000 साध्वियाँ होने का उल्लेख है। 90वें में भगवान अजितनाथ और शान्तिनाथ इन दोनों तीर्थंकरों के 90-90 गण और उतने ही गणधर बताये गये हैं।

91वें समवाय में भगवान कुंथुनाथ के अवधिज्ञानी साधुओं की संख्या 91000

बताई गई है। 92वें में बतलाया गया है कि स्थविर इन्द्रभूति 92 वर्ष की पूर्ण आयु भोगकर सिद्ध हुए। 93वें में भगवान चन्द्रप्रभ के 93 गण और 93 गणधर तथा शान्तिनाथ के 9300 चतुर्दश पूर्वधर होने का उल्लेख है। 94वें में भगवान अजितनाथ के 9400 अवधिज्ञानी बताये गये हैं। 95वें में भगवान सुपार्श्वनाथ के 95 गण एवं 95 गणधर होने, भगवान कुंथुनाथ के 95000 वर्ष और स्थविर मौर्यपुत्र के 95 वर्ष के आयु भोग के पश्चात् सिद्ध होने का उल्लेख है। 96वें में प्रत्येक चक्रवर्ती के 96 करोड़ गाँव होने का उल्लेख है। 97वें में आठ कर्मों की 97 उत्तरप्रकृतियाँ तथा भगवान नमिनाथ के समय में हुए हरिषेण चक्रवर्ती के 97000 वर्ष से कुछ कम गृहवास में रहने के पश्चात् दीक्षित होने का उल्लेख है। 98वें में रेवती से ज्येष्ठा पर्यन्त के 19 नक्षत्रों के 98 तारे बताये गये हैं। 99वें में मेरुपर्वत को भूमि से 99 हजार योजन ऊँचा बताया गया है। 100वें में शतभिषा के 100 तारे और भगवान पार्श्वनाथ एवं स्थविर आर्य सुधर्मा की पूर्ण आयु 100-100 वर्ष बताई गई है।

उपर्युक्त 100 समवायों के पश्चात् क्रमश: डेढ सौ, दो सौ, ढाई सौ, तीन सौ, साढे तीन सौ, चार सौ, साढे चार सौ, पाँच सौ यावत् एक हजार, 1100, दो हजार से 10 हजार, एक लाख से आठ लाख तथा कोटि संख्या वाली विभिन्न वस्तुओं का उल्लिखित संख्या के अनुसार पृथक्-पृथक् 32 समवायों में संकलनात्मक विवरण दिया गया है। कोटि समवाय में भगवान महावीर के तीर्थंकर भव से पहले छट्ठे पोटिल के भव का एक करोड़ वर्ष का श्रामण्य-पर्याय बताया गया है। तदनन्तर कोटाकोटि समवाय में भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर के बीच का अन्तर एक कोटाकोटि सागर बताया गया है।

कोटाकोटि समवाय के पश्चात् 12 सूत्रों में द्वादशांगी का 'गणिपिटक' के नाम से सारभूत परिचय दिया गया है।

तदनन्तर 157वें सूत्र में समवशरण का वर्णन तथा जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की अतीत उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के कुलकरों तथा वर्तमान अवसर्पिणी के कुलकरों तथा उनकी भार्याओं का वर्णन करने के पश्चात् वर्तमान अवसर्पिणी काल के 24 तीर्थंकरों के सम्बन्ध में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विवरण दिया गया है।

तीर्थंकरों से सम्बन्धित उस विवरण में चौबीसों तीर्थंकरों के पिता तथा माता के नाम, तीर्थंकरों के पूर्वभवों के नाम, तीर्थंकरों की शिबिकाओं, जन्म-भूमियों,

देवदूश्य, दीक्षा-साथी, दीक्षा-तप, प्रथम भिक्षादाता, प्रथम भिक्षा का समय, प्रथम भिक्षा में मिले पदार्थ, तीर्थंकरों के चैत्यवृक्ष, उन चैत्यवृक्षों की ऊँचाई, चौबीस तीर्थंकरों के प्रथम शिष्यों और प्रथम शिष्याओं के सम्बन्ध में संक्षिप्त एवं परमोपयोगी विपुल जानकारी दी गई है। इसमें यह भी बताया गया है कि तीर्थंकर अन्यलिंग, गृहलिंग अथवा कुलिंग में कभी नहीं होते।

सूत्र संख्या 158 में चक्रवर्तियों, बलदेवों और वासुदेवों के सम्बन्ध में आवश्यक परिचय और प्रतिवासुदेवों के नाम मात्र दिये गये हैं। यह उल्लेखनीय है कि समवायांग में प्रतिवासुदेवों की महापुरुषों में गणना नहीं की गई है।

सूत्र संख्या 159 में सर्वप्रथम जम्बूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र में हुए इस अवसर्पिणी के 24 तीर्थंकरों, भरतक्षेत्र की आगामी उत्सर्पिणी के सात कुलकरों, ऐरवत क्षेत्र की भावी उत्सर्पिणी के 10 कुलकरों और भरतक्षेत्र तथा ऐरवत क्षेत्र के आगामी उत्सर्पिणी काल के चौबीस तीर्थकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों एवं वासुदेवों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी तथा प्रतिवासुदेवों के नाम दिये गये हैं। उपसंहारात्मक अन्तिम सूत्र में समवायांग की एक संक्षिप्त विषयसूची दी गई है।

यों तो इन समवायों में दी हुई पूरी की पूरी सामग्री महत्त्वपूर्ण है किन्तु इनमें से प्रत्येक समवाय में अनेक ऐसे तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है जो आध्यात्मिक, ऐतिहासिक, तात्त्विक और साहित्यिक सभी दृष्टियों से अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। समवायाङ्ग के प्रत्येक समवाय, प्रत्येक सूत्र प्रत्येक विषय के जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों के लिए ज्ञातव्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का महान भण्डार है। समवायाङ्ग के अन्तिम भाग को एक प्रकार से 'संक्षिप्त जैन पुराण' की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुत: वस्तुविज्ञान, जैन सिद्धान्त और जैन इतिहास की दृष्टि से समवायाङ्ग एक आत्यन्तिक महत्त्व का श्रुताङ्ग है।

समवायाङ्ग की समवाय संख्या 92 में इन्द्रभूति गौतम के 92 वर्ष की आयु पूर्ण करने पर सिद्ध होने तथा समवाय संख्या 100 में आर्य सुधर्मा के 100 वर्ष की आयु पूर्णकर सिद्ध होने के उल्लेख को तर्क के रूप में प्रस्तुत कर अनेक विद्वान अपना यह अभिमत प्रकट करते हैं कि समवायाङ्ग सूत्र की रचना आर्य सुधर्मा के मोक्षगमन के पश्चात् की गई है। वस्तुस्थिति यह है कि पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा जैसे महापुरुषों की आयु के सम्बन्ध में कहीं आगे चल कर किसी प्रकार

का भ्रम न हो जाय, इस दृष्टि से उपर्युक्त दोनों समवायों में इस प्रकार के उल्लेख अभिवृद्ध किये हैं। केवल इन दो उल्लेखों को देखकर पूरे समवायाङ्ग के लिए इस प्रकार की कल्पना कर लेना कि इसकी रचना पश्चाद्वर्ती काल में की गई है वस्तुत: किसी भी दशा में उचित नहीं कहा जा सकता। स्थानाङ्गसूत्र के परिचय में इस प्रकार की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

इस तथ्य को स्वीकार करने में तो किसी भी निष्पक्ष विचारक को किसी प्रकार की हिचक अथवा झिझक नहीं हो सकती कि समवायाङ्गसूत्र का, इसके प्रणयनकाल से लेकर सम्पूर्ण एकादशांगधरों के काल तक जो बृहद् आकार और विशाल स्वरुप था वह आकार और स्वरुप काल के प्रभाव से सिमटते सिकुड़ते आज बहुत छोटा रह गया है। समवायाङ्ग, नन्दी आदि सूत्रों तथा दिगम्बर ग्रन्थों में दी गई इस अंग की पदसंख्या के साथ वर्तमान में उपलब्ध इसकी पदसंख्या का मिलान करने पर यह भलीभाँति प्रकट हो जाता है कि इस अंग का बहुत बड़ा भाग विलुप्त हो चुका है।

आगमों के वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने समवायाङ्ग-वृत्ति की प्रशस्ति में बड़े ही मार्मिक शब्दों में शोक प्रकट करते हुए इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्राचीनकाल में समवायाङ्ग का 1,44,000 पदप्रमाण था पर कालप्रभाव से अब उसका बहुत ही छोटा आकार अवशिष्ट रह गया है।

'शासु (शास्)' धातु जिसका अर्थ 'अनुशिष्टौ' अर्थात् अनुशासन या उपदेश करना है, इससे 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करके 'शास्त्र' की व्युत्पत्ति होती है। जो शिक्षा; अनुशासन प्रदान कर हमारी रक्षा करती है, मार्गदर्शन करती है, कभी-कभी हमारी ऊँगली पकड़कर हमें चलाती है, उसे 'शास्त्र' कहा गया है।

शास्त्र सबके लिए नेत्र के समान हैं। जिसे शास्त्र का ज्ञान नहीं है, वह अन्धा है। **-हितोपदेश**

जिस मनुष्य की अपनी बुद्धि नहीं है, उसके लिए शास्त्र बेकार हैं, जैसे दोनों आँखों से रहित अन्धे को दर्पण क्या करेगा। **-हितोपदेश**

इच्छामि खमासमणो के 25 आवश्यक

श्री धर्मचन्द जैन, जोधपुर

गुरुभगवन्तों का हमारे ऊपर अनन्त उपकार है। उनके प्रति कृतज्ञता एवं आभार प्रदर्शित करने के लिए उन्हें वन्दन-नमन किया जाता है। वन्दना के प्रमुख तीन प्रकार बतलाये हैं-1. जघन्य वन्दना-मत्थएण वंदामि बोलकर की जाती है। 2. मध्यम वन्दना-तिक्खुत्तो के पाठ से विधि सहित आवर्तन देते हुए तीन बार की जाती है। 3. उत्कृष्ट वन्दना- इच्छामि खमासमणो के पाठ से विधि सहित की जाती है।

इच्छामि खमासमणो के पाठ से गुरुभगवन्तों की सुख-साता की पृच्छा करना, अपने से जाने-अनजाने में हुई अविनय-आशातना की क्षमायाचना करना, दिवसभर में लगे अतिचारों की निन्दना करना, स्वयं में उन जैसे गुणों को विकसित करने की कोशिश करना आदि के कारण इसे उत्कृष्ट वन्दना का पाठ कहा गया है। इसका दूसरा नाम द्वादशावर्त्त गुरु वन्दन का पाठ भी है।

इच्छामि खमासमणो देते समय उत्कट (उकडु) आसन से बैठा जाता है, क्योंकि यह आसन कोमलता, शरणागति एवं विनय का प्रतीक है। विनय-सम्पन्नता का प्रकटीकरण हो सके, एतदर्थ पूर्वाचार्यों ने ऐसा आसन बतलाया है।

समवायाङ्गसूत्र के बारहवें समवाय में इच्छामि खमासमणो के पाठ से सम्बन्धित 25 आवश्यकों का वर्णन किया गया है, जिसका मूलपाठ इस प्रकार है-

दुवालसावत्ते कितिकम्मे पण्णत्ते, तं जहा-
दुओणयं जहाजायं, कितिकम्मं बारसावयं।
चउसिर तिगुत्तं च, दुपवेसं एगनिक्खमणं।।

कृतिकर्म बारह आवर्त्त वाला कहा गया है। कृतिकर्म में 1-2 दो अवनत (नमस्कार), 3. यथाजात रूप धारण, 4-15 बारह आवर्त्तन, 16-19 चार शिरोनति, 20-22 तीन गुप्ति, 23-24 दो प्रवेश और 25 एक निष्क्रमण, इस प्रकार कुल 25 आवश्यक होते हैं।

जिससे ज्ञानावरणीय आठ कर्मों का छेदन किया जाये, उसे कृतिकर्म कहते हैं।

देव-गुरु की वन्दना के द्वारा पापकर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए वन्दना को कृतिकर्म कहा जाता है।

इच्छामि खमासमणो से सम्बन्धित 25 आवश्यक

1-2. दो अवनत-(दो बार नमस्कार करना-झुकना) अणुजाणह मे मिउग्गहं कहते हुए दोनों हाथ तथा मस्तक को झुकाते हुए गुरु के अवग्रह (चारों दिशा में गुरु के शरीर प्रमाण अर्थात् साढे 3 हाथ की भूमि-क्षेत्र अवग्रह कहलाता है) में प्रवेश करने की अनुज्ञा माँगना, दोनों खमासमणो का एक-एक अवनत, इस प्रकार दो खमासमणो के दो अवनत होते हैं।

3. यथाजात रूप धारण-दीक्षा ग्रहण करते समय अथवा जन्म ग्रहण करते समय बालक की जो मुद्रा होती है, उसे यथाजात मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा में दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर लगाना।

4-15. बारह आवर्त्तन-खड़े-खड़े इच्छामि खमासमणो से लेकर मिउग्गहं तक पाठ बोलें। अवग्रह भूमि में प्रवेश करने की अनुज्ञा प्राप्त होने पर उकडु आसन से बैठकर निसीहि बोलने के साथ ही दोनों हाथ गुरु की दिशा में लम्बे करके दोनों हाथों से गुरु के चरणों का स्पर्श करें। गुरुदेव से दूर होने पर गुरुचरणों की कल्पना कर स्पर्श करें।

आवर्त्तन इस प्रकार दें- प्रथम के तीन आवर्त्तन- 'अहो' - 'कायं' - 'काय'- इस प्रकार दो-दो अक्षरों से पूरे होते हैं। कमलमुद्रा में अंजलिबद्ध (हाथ जोड़कर) दोनों हाथों से गुरुचरणों को स्पर्श करते हुए मन्द स्वर से 'अ' अक्षर कहना, तत्पश्चात् अंजलिबद्ध हाथों को मस्तक पर लगाते हुए उच्च स्वर से 'हो' अक्षर कहना, यह पहला आवर्त्तन है। इसी प्रकार 'का....यं' और 'का....य' शेष दो आवर्त्तन भी दिये जाते हैं।

अगले तीन आवर्त्तन-1. 'जत्ता भे', 2 'जवणि', 3 'ज्जं च भे'- इस प्रकार तीन-तीन अक्षरों के होते हैं। कमल-मुद्रा से अंजलि बाँधे हुए दोनों हाथों से गुरुचरणों को स्पर्श करते हुए मन्दस्वर से 'ज' अक्षर कहना चाहिये। पुन: हृदय के पास अंजलि लाते हुए मध्यम स्वर से 'त्ता' अक्षर कहना तथा फिर अपने मस्तक को स्पर्श करते हुए उच्च स्वर से 'भे' अक्षर कहना चाहिये। यह प्रथम आवर्त्तन है। इसी पद्धति से 'ज व

णि' और 'ज्जं च भे' ये शेष दो आवर्तन भी करने चाहिये। प्रथम खमासमणो के पाठ में उपर्युक्त छह तथा इसी प्रकार दूसरे खमासमणो के पाठ में भी छह, कुल बारह आवर्त्तन होते हैं।

16–19. चार शिरोनति–चार बार सिर झुकाना– दो खमासमणो में दो बार 'संफासं' कहते हुए एवं दो बार 'खामेमि खमासमणो' कहते हुए शिष्य गुरु के चरणों में शिर झुकाता है–ये 'चार शिरोनति' हैं।

आवश्यकवृत्ति में आचार्य हरिभद्रसूरि ने लिखा है कि शिष्य एवं गुरु के दो शिर परस्पर एक दूसरे के सम्मुख होते हैं। यह प्रथम खमासमणो के दो शिर सम्बन्धी तथा इसी प्रकार दूसरे खमासमणो के भी दो शिर सम्बन्धी आवश्यक समझना चाहिए।

आचार्य सिद्धसेन के अनुसार–शिष्य अपना मस्तक गुरु के चरणों में झुकाता है, वहीं गुरुदेव भी अपना शिर झुकाते हैं।

20–22 तीन गुप्तियों से गुप्त–तीन गुप्तियों से गुप्त होकर अर्थात् मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्तियों का निषेध कर वन्दन करते हैं।

23–24. दो प्रवेश–दो खमासमणो मे कुल दो बार निसीहि कहकर गुरु के अवग्रह में प्रवेश करता है।

25. एक निष्क्रमण–प्रथम खमासमणो में आवस्सियाए शब्द कहकर गुरु अवग्रह से बाहर आना निष्क्रमण है। द्वितीय खमासमणो में गुरु के समीप बैठे–बैठे ही वन्दन पूर्ण कर लिया जाता है। बाहर आना नहीं होता है, अत: निष्क्रमण एक ही होता है।

जिस प्रकार दूत राजा को नमस्कार कर कार्य निवेदन करता है और राजा से विदा होते समय फिर नमस्कार करता है, उसी प्रकार शिष्य कार्य को निवेदन करने के लिए अथवा अपराध की क्षमायाचना करने के लिए गुरु को प्रथम वन्दन करता है, खमासमणो देता है। जब गुरु महाराज क्षमा प्रदान कर देते हैं, तब शिष्य वन्दन करके दूसरा खमासमणो देकर वापस चला जाता है। बारह आवर्त्तन पूर्वक वन्दन की पूरी विधि दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने से ही सम्भव है। अत: पूर्वाचार्यों ने दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने की विधि बतलायी है।

प्रथम खमासमणो में ही आवस्सियाए पडिक्कमामि क्यों बोलना?

आवर्त्तन देने के पश्चात् चरणसत्तरी करणसत्तरी रूप आवश्यक करते समय जो विराधना हुई हो, उसका प्रतिक्रमण करने के लिए प्रथम खमासमणो में आवस्सियाए पडिक्कमामि बोला जाता है तथा अवग्रह भूमि से बाहर निकलकर उस आवश्यिकी भूल का प्रतिक्रमण किया जाता है।

किन्हीं-किन्ही के मत से- आवश्यक कार्य के लिए अपने स्थान से बाहर जाने पर जिस प्रकार 'आवस्सही-आवस्सही' कहा जाता है। उसी प्रकार यहाँ प्रथम खमासमणो में 33 आशातनाओं का पहले चिन्तन करने के लिए गुरु के अवग्रह से बाहर निकलना होता है। आवश्यक कार्य करने के लिए पडिक्कमामि अर्थात् पहले स्थान से पीछे हटता हूँ, आपके अवग्रह से बाहर निकलता हूँ।

समवायाङ्गसूत्र में निष्क्रमण एक ही बतलाया है, इसलिए पहले खमासमणो में ही अवग्रह से बाहर निकला जाता है, दूसरे खमासमणो में नहीं। इसी कारण से दूसरे खमासमणो में 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' शब्द नहीं बोला जाता है।

आप्टे कोशानुसार-'सम्' तथा 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'इ' धातु से 'अच्' प्रत्यय करके 'समवाय' की उत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है-सम्मिश्रण, मिलाप, संयोग, समष्टि या संग्रह।

नन्दी चूर्णि के अनुसार-जीवा समासिज्जंति समं आसइज्जंति। समं ति-ण विसमं, जहावत्थितं अनूनातिरित्तं इत्यर्थः। आसइज्जंति-आश्रीयन्ते बुद्ध्या ज्ञानेन गृह्यन्तेत्यर्थः। जिसमें ज्ञान या बुद्धि के द्वारा जीव आदि पदार्थों का यथार्थ आँकलन किया गया है, वह समवाय (सूत्र) है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशानुसार-समवायाङ्ग में सब पदार्थों की समानता रूप से समवाय का विचार किया गया है। जैसे-धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के तुल्य असंख्यात प्रदेश होने से इनका द्रव्य रूप से समवाय कहा जाता है। इसी प्रकार यथायोग्य क्षेत्र, काल व भाव का समवाय जानना चाहिए।

समवायाङ्ग में वर्णित 18 लिपियाँ और 18 भाषाएँ बोलने वाला भारत

-डॉ. दिलीप धींग, चैन्नई

जैन-संस्कृति या श्रमण संस्कृति भारतवर्ष की प्राचीनतम संस्कृति है। प्रागैतिहासिक काल से ही अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित जैन-परम्परा के अनेक रंग-रूप, छवियाँ और छटाएँ भारतवर्ष के कण-कण में व्याप्त हैं। जैन-परम्परा के विपुल और विविध साहित्य में प्राचीन और मध्यकालीन भारत के ज्ञान-विज्ञान और विकास की विभिन्न धाराओं के बारे में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। भाषा, लिपि और साहित्य के बारे में भी जैन-साहित्य में प्रथम स्तरीय, मौलिक और प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है। लेकिन भाषा और साहित्य के इतिहास में जैनविद्या और प्राकृत विषयक सन्दर्भों का अभाव नजर आता है। जैन-साहित्य की उपेक्षा से भारत की एक समृद्ध ज्ञानधारा तथा हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं की गौरवमयी विकासयात्रा की भी उपेक्षा हुई है। इससे हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के बीच विद्यमान सुदृढ़ आन्तरिक अन्तर्सम्बन्ध भी उपेक्षित हुए हैं। जैन-साहित्य की उपेक्षा के कारण हिन्दी भाषा, साहित्य और संस्कृति की अनेक महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ छूट या टूट गईं।

इस सम्बन्ध में महाकवि सुब्रह्मण्य भारती (1882-1921) के उस सन्दर्भ की चर्चा की जा रही है, जिसमें उन्होंने भारतमाता को 18 भाषाएँ बोलने वाली कहा। तमिल प्रदेष में सुब्रह्मण्य भारती एक ऐसे कवि हुए, जिनकी कविताओं में सम्पूर्ण भारत राष्ट्र की एकात्मता उजागर हुई। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के प्रखर कवि भारती की कविताओं से ब्रिटिश सत्ता को डर लगता था। महाकवि भारती ने उनकी एक चर्चित तमिल कविता में भारतमाता को अठारह भाषाएँ बोलने वाली कहा। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के चेन्नई कार्यालय में उनकी एक कविता की कुछ कड़ियाँ रोज गाई जाती हैं। उनकी तमिल कविता के हिन्दी रूपान्तर की प्रसिद्ध अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

हम पर राज करो हे माता!, आप हैं भारत रानी माँ।
अठारह भाषा में करते, यही प्रार्थना सुन लो माँ।।[1]

जब अठारह भाषाओं की बात आती है तो अनुवादक और विवेचक 'भारत की समस्त भाषाएँ' अर्थ कर देते हैं। ठीक है, लेकिन महान देशभक्त कवि ने किसी आधार से ही भारत को 18 भाषाएँ बोलने वाला देश कहा होगा। वह पुष्ट प्रबल आधार हमें प्राकृत भाषा के प्राचीन जैन ग्रन्थों में मिलता है। जैन ग्रन्थों में बताया गया है कि 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपनी देशनाएँ अर्धमागधी प्राकृत भाषा में प्रदान की थीं। प्राकृत उस समय की जनबोली और लोकभाषा थी। समय, क्षेत्र और भाव के अनुसार प्राकृत भाषा के अनेक रूप-स्वरूप रहे हैं। जैन-आगमों में उन रूपों को अठारह प्रकार की देशी भाषाएँ कहा गया है।

प्राकृत भाषा के प्राचीन जैन-आगम (शास्त्र) ज्ञाताधर्मकथांग में मगध सम्राट् श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार के वर्णन के प्रसंग में कहा गया-''तब वह मेघकुमार 18 प्रकार की देशी भाषाओं में प्रवीण हुआ।''[2] ज्ञाताधर्मकथांग के तीसरे अध्ययन में चम्पा नगरी निवासी देवदत्ता नामक धनाढ्य गणिका को भी अठारह देशी भाषाओं में निपुण बताया गया है।[3] प्राकृत भाषा के ही राजप्रश्नीय सूत्र, औपपातिक सूत्र और विपाक सूत्र में 18 भाषाओं के सन्दर्भ आए हैं।[4] इससे यह सिद्ध होता है ईस्वी पूर्व पाँचवीं-छठी शताब्दी में भगवान महावीर के युग में 18 प्रकार की भाषाएँ प्रचलित थीं।

जब भाषाएँ होती हैं तो भाषाओं को अभिव्यक्त करने के लिए लिपियों का अस्तित्व भी अनिवार्य है। प्राकृत भाषा के चतुर्थ अंग आगम समवायांग सूत्र[5] में ब्राह्मीलिपि के लेखविधान को अठारह प्रकार का बताया गया है-

बंभीए णं लिवीए अट्ठारसविहे लेखविहाणे पणत्ते, तं जहा- 1 बंभी, 2 जवणालिया, 3 दोसऊरिया, 4 खरोट्ठिया, 5 खरसाविआ, 6 पहाराइया, 7 उच्चत्तरिआ, 8 अक्खरपुट्ठिया, 9 भोगवइता, 10 वेणतिया, 11 णिण्हइया, 12 अंकलिवी, 13 गणिअलिवी, 14 गंधव्वलिवी (भूयलिवी), 15 आदंसलिवी, 16 माहेसरीलिवी, 17 दामिलिवी, 18 वोलिंदलिवी।

अर्थात् ब्राह्मी, यावनी, दोषउपरिका, खरोष्ट्रिका, खर-शाविका, प्रहारातिका, उच्चत्तरिका, अक्षरपृष्ठिका, भोगवतिका, वैणकिया, निह्नविका, अंक, गणित, गन्धर्व (भूत), आदर्श, माहेश्वरी, दामि और पोलिन्दी लिपि। कोश शैली के इस आगम में वर्णित इन लिपियों की अठारह संख्या महत्त्वपूर्ण है। ये 18 प्रकार ब्राह्मी लिपि के बताए गए हैं और प्रथम प्रकार की लिपि भी ब्राह्मी है। कुछ लिपियों के नाम देश या क्षेत्र, विषय, वर्ग, शैली आदि को इंगित करते प्रतीत होते हैं।

प्राकृत भाषा के विशाल जैन-आगम व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) का शुभारम्भ मंगलाचरण से होता है। इस मंगलाचरण में पंच परमेष्ठी (अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) को नमन के बाद छठे क्रम पर ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है- णमो बंभीए लिवीए। व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे श्रद्धास्पद ग्रन्थ में ब्राह्मी का उल्लेख इसकी प्राचीनता का द्योतक है।

ब्राह्मी लिपि के उद्गम या प्रारम्भ के बारे में भारतीय वांगमय एवं विद्वानों में विभिन्न प्रकार के मत हैं। जैन-मतानुसार प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान ऋषभदेव ने अपनी ज्येष्ठ पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से जो लिपियाँ सिखाईं, उन्हें ब्राह्मी लिपि के नाम से जाना जाता है। समय, स्थान और विषय के अनुसार उनके 18 नाम और रूप हो गये। ब्राह्मी ने जो 18 लिपियाँ सीखीं और प्रचलित कीं, वे सभी क्षेत्रों के समस्त ज्ञान को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनीं। उन्हीं लिपियों में तत्कालीन भारतवर्ष की अठारह मुख्य भाषाओं को अभिव्यक्ति मिली।

जो लिपिबद्ध शास्त्र हैं, उन्हें श्रुत कहते हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति में लिपि को नमस्कार के बाद जो लिपिबद्ध साहित्य है, उसे भी 'णमो सुयस्स' पद से नमस्कार करके लिपि तथा लिपिबद्ध श्रुत की महिमा बताई गई है। 'श्रुत' का एक अर्थ है- सुनकर लिपिबद्ध किया हुआ साहित्य। इस अर्थ में आप्तवाणी का लिपिबद्ध अथवा सूत्रबद्ध साहित्य भी 'श्रुत' और 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है। जैन दर्शन में पाँच प्रकार के ज्ञान की विशद् चर्चा मिलती है। इनमें दूसरे क्रम का ज्ञान है- श्रुतज्ञान। सुनकर जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। यह भावश्रुत है। इसे ही जब लिपिबद्ध कर लिया जाता है तो यह द्रव्यश्रुत कहलाता है। ग्रन्थों में श्रुत को 'तीर्थ' भी कहा गया है। क्योंकि शास्त्ररूप और ज्ञानरूप श्रुत का स्वाध्याय करके मानव अपने जीवन को सही दिशा दे सकता है। इस प्रकार लिपि व श्रुत को नमस्कार करके शास्त्र, शास्त्र-श्रवण तथा लिखित सत्साहित्य के प्रति असीम सम्मान दर्शाया गया है।

अठारह लिपियों के प्राचीन सन्दर्भ प्राकृत भाषा के जैनग्रन्थों में मिलते हैं। प्राकृत भाषा के चतुर्थ उपांग आगम प्रज्ञापनासूत्र में अर्धमागधी प्राकृत जानने वाले को भाषा-आर्य कहा गया है- भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासिंति, जत्थ वि य णं बंभी लिवी पवत्तइ।[6] इसमें तत्कालीन अर्धमागधी प्राकृत के लेख-विधान को ब्राह्मी लिपि में 18 प्रकार का बताया गया है। इसमें उल्लिखित 18 प्रकार के नाम लगभग वही हैं, जो

समवायांग सूत्र में हैं। कल्पसूत्र और विशेषावश्यक टीका में भी 18 प्रकार की लिपियों की सूची मिलती हैं। उनके नाम बिल्कुल ही अलग हैं, लेकिन संख्या 18 ही हैं। शायद समय के साथ लिपियों के नाम बदल गये हो, लेकिन संख्या 18 ही रहीं। इन नामावलियों में भाषा और लिपि के इतिहास के संकेत एवं वर्तमान में प्रचलित अनेक लिपियों के स्वरूप का भी बोध होता है।

यतिवृषभाचार्य (दूसरी सदी) द्वारा लिखित ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति' और उद्योतनसूरि (आठवीं सदी) द्वारा रचित ग्रन्थ 'कुवलयमालाकहा' में भी 18 देशी भाषाओं का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट है प्राचीन और मध्यकालीन भारत में 18 भाषाएँ और 18 लिपियाँ मुख्य रूप से प्रचलित थीं, जिनका आरम्भिक उल्लेख प्राकृत साहित्य में मिलता है। संस्कृत और अन्य भाषाओं के जैन-साहित्य में भी यह उल्लेख मिलता है। यही उल्लेख पिछली सदी में अपनी तमिल कविता में सुब्रह्मण्य भारती ने किया।

उत्तर भारत की भाषाओं के साथ तो प्राकृत और ब्राह्मी का अभिन्न सम्बन्ध है ही, दक्षिण भारतीय द्राविड़ी भाषाओं से भी प्राकृत और ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध है। जिस प्रकार प्राकृत के अनेक शिलालेख ब्राह्मी लिपि में मिलते हैं, उसी प्रकार तमिल और अन्य द्राविड़ी भाषाओं के अनेक अभिलेख भी ब्राह्मी लिपि में मिलते हैं। प्राकृत एवं ब्राह्मी लिपि के 18 प्रकारों में एक प्रकार हैं- तामिली या दामिली (द्राविड़ी)। यह उल्लेख प्राकृत, तमिल व द्रविड़ भाषाओं तथा ब्राह्मी लिपि के अन्तर्सम्बन्धों का महत्वपूर्ण प्राचीन प्रमाण है। द्रविड़ भाषा परिवार में तमिल के अलावा कन्नड़, तेलुगू, मलयालम भी समाविष्ट हो जाती हैं। रामधारीसिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा कि दक्षिण भारत में प्रचलित जैन-परम्परा के अनुसार ब्राह्मी ऋषभदेव की बड़ी पुत्री थी। उन्होंने 18 प्रकार की लिपियों का प्रचार किया, जिनमें एक लिपि कन्नड़ हुई।

महाकवि भारती उस तमिल प्रदेश में जन्मे, जहाँ किसी समय जैनधर्म अपनी समृद्ध अवस्था में था। तमिल-प्रदेश में प्राकृत और तमिल भाषाओं एवं इनके साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध और प्रभाव भी हुआ। तमिल साहित्य के सम्वर्धन में भी जैनों का ऐतिहासिक योगदान है।[7] विद्यार्जन के लिए भारती चार वर्ष तक काशी में भी रहे। निश्चित ही भारती ने प्राचीन और मध्यकालीन भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली 18 भाषाओं और लिखी जाने वाली 18 लिपियों की सूचना प्राप्तकर ही भारतमाता को 18 भाषाएँ बोलने वाली कहा है। कवि ने इन्हीं अठारह भाषाओं और लिपियों के

माध्यम से भारत की एकता, एकरूपता और एकात्मता को अभिव्यक्त किया है। वर्तमान में 18 भाषाओं के लाक्षणिक अर्थ में सभी भारतीय भाषाओं को समाविष्ट किया जा सकता है।

विभिन्न प्रकार की प्राकृत भाषाओं के आधार पर विभिन्न भारतीय भाषाओं का जन्म और विकास हुआ। इसी प्रकार ब्राह्मी और अन्य लिपियों के आधार पर नागरी या देवनागरी लिपि और अन्य लिपियों का विकास माना जाता है। भाषा और लिपि का यह सम्बन्ध स्वाभाविक, बुनियादी तथा अत्यन्त गहरा है। जैसे सभी भारतीय भाषाएँ बहिनें हैं, वैसे ही भारत की लिपियाँ भी बहिनें हैं। सबका उद्गम ब्राह्मी लिपि से माना जाता है। नागरी लिपि का उद्गम भी ब्राह्मी लिपि से हुआ है। जैन-विद्वानों ने वर्तमान में प्रचलित नागरी लिपि को 'आधुनिक ब्राह्मी' कहा है। इस प्रकार आधुनिक ब्राह्मी अर्थात् देवनागरी लिपि के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं को नजदीक लाया जा सकता है। क्योंकि नागरी लिपि में एक ही नहीं, अनेक भाषाएँ लिखी जाती हैं एवं अन्य कई भाषाओं की लिपियाँ भी नागरी जैसी हैं।

डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी के शब्दों में कहें तो देवनागरी का भारत की अन्य प्रान्तीय लिपियों से सहोदरा या चचेरी बहिनों जैसा सम्बन्ध है। बंगला-असमी, मैथिली, उड़िया, गुरुमुखी तथा देवनागरी एक-दूसरे से इतनी अधिक मिलती-जुलती है कि उन्हें एक ही लिपि की विभिन्न शैलियाँ कहा जा सकता है। इस प्रकार समूचे भारत में सभी लिपियाँ देवनागरी की स्वगोत्र या कौटुम्बिक लिपियाँ ही सिद्ध होती हैं।[8] जिनका मूलाधार ब्राह्मी लिपि है। यायावर जैन सन्तों ने ब्राह्मी लिपि को एक युग से दूसरे युग में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक, एक देश से दूसरे देश तक पहुँचाया और फैलाया। राहुल सांकृत्यायन ने 'घुमक्कड़ शास्त्र' में इस तथ्य को सिद्ध करने वाले अनेक उद्धरण दिये हैं। यही वजह है कि ब्राह्मी का प्रभाव सिर्फ भारतीय भाषाओं पर ही नहीं, विदेशी भाषाओं पर भी हुआ। प्राकृत भाषा के जैन-साहित्य में भाषाओं और लिपियों के उल्लेखों की महत्ता असंदिग्ध है। ये उल्लेख भाषाओं और लिपियों के विकास-क्रम और इतिहास को समझने एवं भाषायी सौहार्द बढ़ाने में अत्यन्त उपयोगी हैं।

सन्दर्भ सूची-

1. पाक्षिक पत्रिका 'चाणक्य वार्ता' (16-30 जून 2018) के तमिलनाडु विशेषांक में लक्ष्मीनारायण भाला का लेख 'भाषाभिमान और राष्ट्राभिमान का अनुपम संगम।'

2. तते णं से मेहेकुमारे ..... अट्ठारसविहिप्पगारदेसी भासाविसारए ... होत्था। - ज्ञाताधर्मकथांग, प्रथम अध्ययन - उत्क्षिप्तज्ञान, ज्ञाताधर्मकथांग पद 101
3. तत्थ णं चंपाए नयरीए देवदत्ता नाम गणिया परिवसइ अड्ढा ..... अट्ठारस देसीभासा विसारया। - ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र, अध्ययन 3, पद 6
4. मुनि डॉ. नगराज द्वारा लिखित आगम और त्रिपिटक, एक अनुशीलन, खण्ड-2 (भाषा और साहित्य), प्रथम संस्करण, 1982
5. समवायाङ्गसूत्र, समवाय 18
6. प्रज्ञापना सूत्र, पद 1, सूत्र 37
7. देखें, डॉ. दिलीप धींग के निबन्ध (1) प्राकृत-तमिल : सम्बन्ध और प्रभाव, जिनवाणी (अक्टूबर 2019) एवं तमिल साहित्य के सम्वर्धन में जैनों का योगदान : एक विहंगावलोकन, जिनवाणी (अगस्त 2021)
8. सुनीतिकुमार चटर्जी, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी (1957), पृ. 238

-निदेशक : अन्तरराष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन व शोध केन्द्र
7, अय्या मुदली स्ट्रीट, साहुकारपेट, चेन्नई-600001

पाप का उपार्जन करने वाले शास्त्र

1. भौमश्रुत-भूकम्प आदि का वर्णन करने वाले।
2. उत्पातश्रुत-अकस्मात् वर्षा आदि का फल बताने वाले।
3. स्वप्नश्रुत-शुभ-अशुभ स्वप्नों का फल बताने वाले।
4. अन्तरिक्षश्रुत-आकाश में ग्रहोपराग आदि का फल बताने वाले।
5. अङ्गश्रुत-शरीर के अङ्गों से फल बताने वाले।
6. स्वरश्रुत-स्वर को सुनकर फल बताने वाले।
7. व्यञ्जनश्रुत-शरीर में उत्पन्न तिल आदि का फल बताने वाले।
8. लक्षणश्रुत-शरीर में उत्पन्न शंख आदि चिह्नों का फल बताने वाले।

उपर्युक्त आठों सूत्र, वृत्ति और वार्त्तिक के भेद से 8 x 3 = 24

25. विकथानुयोगश्रुत-स्त्रीकथा आदि कथाएँ करने वाले।
26. विद्यानुयोगश्रुत-रोहिणी आदि विद्याओं को साधने के उपाय बताने वाले।
27. मन्त्रानुयोगश्रुत-लौकिक प्रयोजन हेतु मन्त्र आदि बताने वाले।
28. योगानुयोगश्रुत-स्त्री-पुरुष आदि को वश में करने वाले।
29. अन्यतीर्थिकप्रवृत्तयानुयोग-अन्य मतावलम्बियों द्वारा रचित।

-समवायाङ्गसूत्र, समवाय 29

महाव्रतों की सुरक्षा कैसे हो ?

श्री पदमचन्द गाँधी, जयपुर

सभी आस्तिकों का परम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है। इसके लिए सभी तीर्थंकरों ने तीन साधन बताये हैं-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र। सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन होने पर भी जब तक चारित्र की प्राप्ति नहीं होती तब तक मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मोक्षप्राप्ति का अनन्तर साधन सम्यक् चारित्र ही है। चारित्र सम्यक् तभी होता है जब ज्ञान व दर्शन सम्यक् हो। ज्ञान, दर्शन की सार्थकता और सफलता तभी होती है जब उसका फल विरति के रूप में, चारित्र के रूप में सामने आता हो, इसलिए कहा गया है 'णाणस्स फलं विरई' अर्थात् ज्ञान का फल विरति है। इस विरति के कारण ही मोक्षफल की प्राप्ति होती है, कहा गया है-

याता यान्तीह यास्यन्ति, मुक्तिपुरीं च ये समे।
ते प्रव्रज्याप्रभावाद्धि, तस्यै कुर्मो नतिं मुदा।।

जो भव्य आत्माएँ मोक्ष में गयी हैं, जो जा रही हैं और जो जावेंगी वे सब सर्वरूप प्रव्रज्या के प्रभाव से ही गयी हैं, जा रही हैं और जावेंगी। ऐसी सर्वविरति प्रव्रज्या को हम वन्दन करते हैं। अत: स्पष्ट है संयम बिना, अणगार धर्म बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। साधक तीन करण-तीन योग से सावद्ययोग को त्याग करता है तथा सब प्रकार के पापों से स्वयं को पृथक् कर लेता है। साधक किसी प्रकार का पापकर्म किसी भी रूप में नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है। इसी प्रतिज्ञा को महाव्रत की संज्ञा दी गयी है। अणगार द्वारा स्वीकृत व्रतों में कोई छूट न होने से महाव्रत कहलाते हैं। योगशास्त्र प्र. श्लोक 18/19 में स्पष्ट किया है-

सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमिष्यते।
कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा।।
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा:।
पञ्चभि: पञ्चभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये।।

अर्थात् सम्यक् चारित्र रूपी रत्न की उत्कृष्ट आराधना के लिए पाँच महाव्रतों की अनुपालना उनका निरतिचार, अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। महाव्रतों की

सम्यक् आराधना के बिना यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होता और यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। अतएव पाँच महाव्रतों की निर्मल आराधना चारित्र की आराधना की सुदृढ़ पीठिका है। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रत मोक्ष-महल के शिखर पर चढ़ने हेतु सोपान तुल्य हैं। अत: इनकी रक्षा करना परम आवश्यक है।

महाव्रतों की रक्षा कैसे हो?

समवायाङ्गसूत्र के समवाय 25 में प्रभु महावीर ने पंचयाम महाव्रतों का उपदेश दिया तथा उनकी रक्षा के लिए प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का चिन्तन-मनन और आचरण करने का विधान बताया। महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन विरति नामक व्रत तथा पाँच समिति-तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन माता तथा विभिन्न भावनाओं का निरूपण किया गया है। भगवती आराधना 1185 में कहा है-

तेसिं चेव वयाणं रक्खथं सद्भायण नियत्ति।
अट्ठ य पवयणमायाओ भावणाओ सव्वाओ।

श्रमणधर्म के पालन हेतु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को स्वीकार किए बिना हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह के पापों से नहीं बचा जा सकता। आज के परिप्रेक्ष्य में भौतिकवाद का ताण्डव चारों तरफ है। कामोत्तेजक दृश्यों को देखकर मन विचलित एवं आँखे दूषित हो जाती हैं, ऐसे में सम्यक् चारित्र का पालन बड़ा ही दुष्कर है। फिर भी धन्य हैं सभी चारित्र आत्माएँ जो व्रतों का दृढ़ता से पालन करते हैं। ये व्रत ही हैं जो इन्द्रियों को वश में करने में सहायक होते हैं। सम्यक् चारित्र का प्रारम्भ ही व्रतों से होता है। इन्हीं के द्वारा इन्द्रियों को वश में किया जाता है तथा इन्द्रियाँ वश में होने पर ही साधक आत्मा की ओर संलग्न होकर परमपद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इसलिए ज्ञानियों ने कहा है इन्द्रियों के दास नहीं, गुलाम नहीं, स्वामी बनो, क्योंकि जो जोड़ता है वह गुलाम है तथा जो छोड़ता है वह मालिक है।

पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए समवायाङ्गसूत्र के 25वें समवाय में 25 भावनाएँ बतायी गयी हैं जिनका विवरण व्रतों के स्पष्टीकरण के साथ निम्न प्रकार है-

1. **प्राणातिपात-अहिंसा महाव्रत**-अनगार धर्मामृत चतुर्थ अध्याय 35

के अनुसार अहिंसा सम्यग्दर्शन रूपी राजा की शक्तिरूप सम्पदा है, निर्मल ज्ञानरूपी चन्द्रमा का निचोड़ है, समस्त व्रतरत्नों की खान है, समस्त क्लेश रूपी सर्पों के लिए गरूड़ का आघात है, आनन्द-रूपी अमृत का समुद्र है, अद्भुत गुणरूपी कल्पवृक्षों के लिए भोगभूमि है, लक्ष्मी के विलास के लिए घर है और यश की जन्मभूमि है।

अहिंसा समस्त सिद्धान्तों का हृदय है, सर्वशास्त्रों का गर्भ है, व्रत-शील-गुण आदि का पिण्ड है। इस प्रकार अहिंसा सारभूत है। साधक जीवहिंसा से बचने का व्रत ग्रहण करता है, दशवैकालिकसूत्र अध्ययन 4 के अनुसार साधक प्रतिज्ञा करता है- 'हे भगवन्! मैं सब प्रकार के प्राणातिपात का त्याग करता हूँ। जीव चाहे सूक्ष्म हो या बादर, त्रस हो या स्थावर, मैं किसी प्राणी के प्राणों का अतिपात (हनन) स्वयं न करूँगा, न दूसरों से करवाऊँगा और न किसी की अनुमोदना करूँगा। हे भगवन्! भूतकाल में किए गये प्राणातिपात के लिए मैं पश्चात्ताप (प्रतिक्रमण) करता हूँ। उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पापयुक्त आत्मा को छोड़ता हूँ। इस प्रकार हे भगवन्! मैं सब प्रकार से प्राणातिपात विरमण व्रत को अंगीकार करता हूँ।'

अणगार धर्म स्वीकार करने वाले साधक द्वारा सर्वांश में अहिंसा का पालन करना सम्भव नहीं है क्योंकि शरीर के लिए भोजन, गति-स्थिति, हलन-चलन, श्वासोच्छवास आदि क्रियाएँ जरूरी है, लेकिन इसका समाधान तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन 7 सूत्र 8 में बताते हुए कहा गया है-**'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'** इसके अनुसार जब साधक प्रमत्त योग से छूट जाता है अर्थात् हिंसा के परिणाम से विरत हो जाता है तब सूक्ष्म जीवों की हिंसा अर्थात् उसके प्राणों का अतिपात होने पर भी हिंसा नहीं है। जब साधु ईर्यासमिति आदि समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त होता है और उपयोग पूर्वक प्रवृति करता है तब वह उन प्रवृत्तियों को करता हुआ भी हिंसा का भागी नहीं होता है। वह यतना धर्म का पूर्ण ध्यान रखता है। इसके लिए व्रत के अभिलाषी को षट्काय के जीवों की रक्षा का बोध कराया जाता है जिससे वे इन जीवों की समताभाव से रक्षा करते हैं। इसलिए अणगार को छः काया का प्रतिपाल भी कहा गया है।

जिस प्रकार विविध भावनाओं से भावित करने से औषधियाँ रसायन बनकर पुष्टिदायक बनती हैं उसी प्रकार समवायाङ्गसूत्र के 25वें समवाय में अहिंसा व्रत की पुष्टि एवं सुरक्षा के लिए पाँच भावनाएँ ईर्या समिति, मनो गुप्ति, वचन गुप्ति,

आलोकितपान-भोजन और आदान भण्ड मात्र निक्षेपणा समिति का वर्णन किया गया है। इन पाँचों भावनाओं का चिन्तन-मनन किया जाये। भूमि पर दृष्टि रख कर जीवों की रक्षा करते हुए गमनागमन करें, मन की चंचलता पर नियन्त्रण करें, बोलते समय हित, मित, प्रिय वचन बोले, सूर्य से प्रकाशित स्थान पर भलीभाँति देख-शोध कर खान-पान करें और वस्त्र-पात्र आदि को उठाते और रखते समय सावधानी रखें।

आचाराङ्ग श्रुतस्कन्ध 2 अध्ययन 15 में भी अहिंसा व्रत की सुरक्षा की पाँच भावनाएँ समवायाङ्ग जैसे ही बतायी है-

(1) इरियासमिए से णिग्गंथे, णो इरियाअसमिए त्ति पढमा भावणा-अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए साधु को ईर्यासमिति से समित होना चाहिए। गमनागमन एवं स्थान हेतु ऐसी प्रवृति हो जिससे किसी जीव की हिंसा न हो, किसी जीव को पीड़ा न पहुँचे। अत: युगप्रमाण (चार हाथ जितनी) भूमि को अच्छी तरह देखकर गमनागमन करें। त्रस-स्थावर सभी प्रकार के जीवों के लिए दया से औतप्रोत होना चाहिए। साधक यतनाधर्म का पूर्ण ध्यान रखने वाला होना चाहिए।

(2) मणं परिजाणइ से णिग्गंथे, जे य मणे अपावए त्ति दोच्चा भावणा- अहिंसा व्रत को पुष्ट करने के लिए, अपने मन में किसी प्रकार के संक्लिष्ट, पापकारी, अशुभ और हिंसाकारी विचार न आने दें। मन गुप्ति से गुप्त अणगार ही अहिंसा का पालक होता है।

(3)वइं परिजाणइ से णिग्गंथे, जा य वइ अपाविय त्ति तच्चा भावणा-अहिंसा के आराधक को नृशंस, क्रूर और दारूण वचन नहीं बोलना चाहिए। जो कलह करने वाली है, दूसरों के मन को छेदने वाली है, परनिन्दाकारी है और सावद्य है वह भाषा कभी भी नहीं बोलनी चाहिए। इस प्रकार साधु को वचन गुप्ति एवं भाषा समिति द्वारा अहिंसा का पालन करना चाहिए।

(5) आलोइयपाणभोयणभोई से णिग्गंथे, णो अणालोइयपाणभोयणभोई त्ति पंचमा भावणा-खाने-पीने की वस्तुओं को भलीभाँति देखभाल करना, आलोकित-पान-भोजन भावना है। साधु को पूर्ण सावधानी के साथ खान-पान की वस्तु को लेने में ध्यान रखना चाहिए जिससे किसी प्रकार की हिंसा न हो।

(4) आयाणभंडणिक्खेवणा-समिए से णिग्गंथे, णो आयाणभंडणिक्खेवणा-

असमिए त्ति चउत्था भावणा- वस्तुओं को उठाने में और रखने में सावधानी रखना, भलिभाँति देखकर और प्रमार्जन कर उन्हें उठाना या रखना आदान भण्ड मात्र निक्षेपणा समिति भावना है।

2. सत्य महाव्रत–दशवैकालिक अध्ययन 4 में स्पष्ट किया है कि श्रमण यावज्जीवन के लिए मृषावाद का त्याग करता है। वह दूसरी महाप्रतिज्ञा इस प्रकार ग्रहण करता है-'भंते! दूसरे महाव्रत में मृषावाद की विरति होती है। भंते! मैं सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध से या लोभ से, भय से या हँसी से, मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूँगा, दूसरों से नहीं बुलवाऊँगा और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। यावज्जीवन के लिए तीन करण-तीन योग से मन से, वचन से, काया से न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। भंते ! मैं अतीत के मृषावाद से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।' असत्य भाषण भयंकर पाप है, अतएव अणगार उसका सर्वथा परिहार करता है। शास्त्रकारों ने सत्य को भगवान कहा है।

मृषावाद क्रोध, लोभ, भय और हास्य इन चार कारणों से बोला जाता है लेकिन जिन्होंने सत्य बोलने का व्रत लिया है वे सत्य, प्रिय और हित वचन को सत्य वचन कहते हैं। अत: जो अप्रिय हैं, अहितकर हैं श्रमण उन वचनों का परित्याग करता है। समवायांग के समवाय 25 एवं आचाराङ्गसूत्र में सत्य महाव्रत की निम्न पाँच भावनाएँ बतायी गयी है-

(1) अनुवीचि भाषण-विचार पूर्वक, सम्यग्ज्ञान सहित, निर्दोष, मधुर, सत्य, पथ्य वचन बोलना जिससे किसी को दु:ख न हो, बुरा न लगे, यह अनुवीचि भाषण प्रथम भावना है। सत्य व्रत के आराधक को बिना विचारे, अविवेक युक्त वचन नहीं बोलना चाहिए। मेरे वचन कहीं मिथ्या न हो, पर पीड़ाकारी न हो, सावद्य न हो, गर्हित न हो, कर्कश या कठोर न हो, अप्रिय न हो ऐसा पर्यालोचन करने के बाद बोलने से असत्य भाषण की सम्भावना नहीं रहती। अतएव विचार पूर्वक-विवेक पूर्वक बोलना सत्यव्रत की सुरक्षा की पुष्टि करता है।

(2) क्रोध प्रत्याख्यान-क्रोध के आवेश में व्यक्ति यद्वा-तद्वा बोलने लगता है। वह भाषा के संयम को गँवा बैठता है। अत: जब क्रोध का आवेश हो तब क्षमा और मौन धारण करना चाहिए।

(3)लोभ प्रत्याख्यान–लोभ–लालच के वशीभूत होकर झूठ बोला जाता है। अत: जब लोभ का उदय हो तब मौन धारण करके सन्तोष का अवलम्बन करना चाहिए। लोभ पर अंकुश लगाने से झूठ बोलने से बचा जा सकता है। यह सत्यव्रत हेतु तीसरी भावना है।

(4)भय प्रत्याख्यान–डर के मारे या भय से अभिभूत होकर भी व्यक्ति प्राय: झूठ बोलता है अत: सत्य के आराधक को नीडर होना चाहिए, भयमुक्त होना चाहिए। भय का उद्रेक होने पर मौन रखना तथा धैर्य धारण करना चाहिए। भय को जीत लेने पर सत्य भाषण सरल हो जाता है। यह सत्यव्रत की पुष्टि की चौथी भावना है।

(5)हास्य प्रत्याख्यान– हास्य विनोद में प्राय: झूठ बोला जाता है, इसलिए सत्यव्रती के लिए हास्य प्रत्याख्यान जरूरी है। इसके द्वारा बहुत से झूठ से बचा जा सकता है। यह सत्यव्रत की पुष्टि की पाँचवीं भावना है।

इसके अलावा राग, द्वेष और मोह से भी मिथ्या भाषण किया जाता है, कहा भी है 'रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतमिति।'

उक्त पाँच भावनओं का अवलम्बन लेने से सत्य महाव्रत पुष्ट होता है अतएव श्रमण निर्ग्रन्थ उक्त पाँचों भावनाओं को सदा अपनाते हैं। सत्य महाव्रत के आराधक के लिए भाषा समिति का पूरा–पूरा विवेक रखना जरूरी है। साधुजनों को मुख्यतया मौन ही रखना चाहिए, यदि बोलना पड़े तो आत्महित के विरूद्ध नहीं बोले तथा सत्य, प्रिय, निरवद्य और हितकारी वचन ही बोले।

3. अस्तेय महाव्रत–श्रमण तीसरी महाप्रतिज्ञा अंगीकार करता है। किसी भी प्रकार की वस्तु को तब तक ग्रहण नहीं करता जब तक वह उसके स्वामी द्वारा दत्त न हो या अनुज्ञापित न हो। दशवैकालिक अध्ययन 4 में बताया है–'भंते! तीसरे महाव्रत में अदत्तादान की विरति होती है। मैं सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में या अरण्य में कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित या अचित्त, किसी भी अदत्त वस्तु को मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरों से नहीं कराउँगा तथा अनुमोदन भी नहीं करूँगा। यावज्जीवन के लिए तीन करण–तीन योग से मन से, वचन से, काया से न करूँगा, न कराऊँगा तथा करने वालों का अनुमोदन

भी नहीं करूँगा। भंते! मैं अतीत के अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ तथा आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।'

स्थानांग सूत्र की टीका में चार प्रकार की चोरी बतायी गई है-(1) स्वामी अदत्त अर्थात् जो वस्तु मालिक द्वारा न दी गई हो या उनके द्वारा जो अनुज्ञापित न हो उसे ग्रहण करना। (2) जीव अदत्त अर्थात् स्वामी के द्वारा दिए जाने पर भी या अनुज्ञापित किए जाने पर भी यदि जीव के द्वारा दत्त या अनुज्ञात न हो तो वह जीव अदत्त हो। जैसे माता-पिता द्वारा अपने पुत्र को साधु को दिए जाने पर भी यदि पुत्र स्वयं नहीं रहना चाहे तो वह जीव अदत्त कहलाता है। (3) तीर्थंकर अदत्त-तीर्थंकर परमात्मा ने जिनके लिए अनुमति न दी हो उनको ग्रहण करना या आचरण करना। (4) गुरु अदत्त- तीर्थंकर परमात्मा द्वारा अनुज्ञात होने पर भी यदि गुरु की आज्ञा न हो तो उसे ग्रहण करना।

अचौर्य महाव्रत को पुष्ट बनाने के लिए एवं उनकी सुरक्षा के लिए समवाय 25 में पाँच भावनाएँ बतायी हैं-(1) अवग्रह अनुज्ञापनता अर्थात् किसी वस्तु को ग्रहण करने से पूर्व स्वामी की आज्ञा लेना। (2) अपनी सीमा या मर्यादा के ज्ञान पूर्वक ही वस्तु लेना। (3) स्वयमेव अवग्रह अनुग्रहणता अर्थात् स्वयं याचना करके वस्तु ग्रहण करना। (4) साधर्मिक अवग्रह अनुज्ञापनता अर्थात् अवग्रह सीम ज्ञापनता अर्थात् सम्भोगी साधुओं को उपाश्रय की सीमा बताकर उसे भोगना-काम में लेना अर्थात् करना। (5) साधारण भक्तपान अनुज्ञाप्य परिभुंजनता। याचना करके लाये हुए भक्त पानादि को गुरुजनों के आगे निवेदन कर और उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर आहार करना।

आचाराङ्गसूत्र में भी पाँच भावनाएँ अचौर्यव्रत को पुष्ट करने लिए बतायी है-

(1) अनुवीचिमितावग्रह याचन-सम्यक् विचार करके उपयोग के लिए आवश्यक अवग्रह स्थान की याचना करना अनुवीचिमितावग्रह भावना है। देवेन्द्र, राजा, गृहपति, शय्यातर और साधर्मिक के भेद से पाँच प्रकार के अवग्रह कहे गये हैं। इनमें से जो जहाँ स्वामी हो उसी से याचना करनी चाहिए तथा आज्ञा लेनी चाहिए। यदि साधर्मिक साधु पहले से ठहरे हो तो पहले उनसे आज्ञा लेनी चाहिए। और यदि वे नहीं ठहरे हो तो व्यवस्थापक, अधिकृत व्यक्ति से या कुटुम्ब के स्वामी से आज्ञा लेनी चाहिए। द्रव्य, क्षैत्र, काल और भाव का विचार करके अवग्रह की याचना

पहली भावना है।

(2) अनुज्ञापित पानभोजन–शास्त्रीय विधिपूर्वक प्रासुक, एषणीय और कल्पनीय आहार–पानी ला कर आलोचना पूर्वक गुरु को दिखा कर उनकी आज्ञा से मण्डली में बैठकर उसका उपयोग करना अनुज्ञापित पानभोजन दूसरी भावना है।

(3) प्रमाणपूर्वक अवग्रह अवधारण–अनुज्ञात स्थान में भी अमुक–अमुक इतना–इतना स्थान ही उपयोग में लिया जायेगा, इससे अधिक नहीं, इस प्रकार अवग्रह का अवधारण करना प्रमाणपूर्वक अवग्रह अवधारण है। इससे स्थानदाता को अरुचि या असुविधा नहीं होती।

(4) पुनः पुनः अवग्रह याचन–एक बार स्वामी द्वारा आज्ञा दिए जाने पर भी दाता के चित्त की अरुचि को दूर करने हेतु पुनः पुनः अवग्रह की याचना करना चाहिए। उपाश्रय में रहते हुए जिन–जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो उनके उपयोग के लिए पुनः पुनः आज्ञा लेने से अदत्त का दोष नहीं लगता।

(5) साधर्मिक अवग्रह याचन–समान धर्मी साधुओं के द्वारा पूर्व परिगृहीत क्षेत्र में ठहरने के लिए उनकी अनुमति लेना आवश्यक है। अन्यथा अदत्त का दोष लगता है।

उक्त पाँच भावनाओं का पालन करता हुआ अणगार अचौर्य महाव्रत का सम्यक् आराधक होता है।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत–श्रमण निर्ग्रंथ की चौथी प्रतिज्ञा सब प्रकार के अशील और कुशील से निवृत्त होकर अखण्ड ब्रह्मचर्य महाव्रत को अंगीकार करना है। प्रश्न व्याकरण सूत्र चतुर्थ संवर द्वार के अनुसार ब्रह्मचर्यव्रत के भंग होने पर विनय, शील, तप आदि सब गुणसमूह मिट्टी के घड़े के समान एकदम नष्ट हो जाते हैं, दही के समान मथ जाते हैं, मर्दित हो जाते हैं, चने के समान पिस जाते हैं। बाण से बिन्धे हुए शरीर के समान बिंध जाते हैं, महल के शिखर के समान नीचे गिर जाते हैं, लकड़ी के दण्ड के समान टूट जाते हैं, कोढ आदि से सड़े हुए शरीर के समान सड़ जाते हैं और अग्नि में जल कर भष्म हुई लकड़ी की राख के समान अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। इस प्रकार प्रशस्त लक्षणों से युक्त यह ब्रह्मचर्य ग्रहगणों, नक्षत्रों और तारों के बीच में चन्द्रमा के समान सब व्रतों के बीच सुशोभित है। दशवैकालिक अध्ययन

4 के अनुसार श्रमण सभी प्रकर के मैथुन-सेवन का प्रत्याख्यान तीन करण-तीन योग से ग्रहण करता है। निवृत्त होता है, निन्दा करता है तथा गर्हा करता है और आत्मा का व्युत्सर्ग करता है।

निर्ग्रन्थ श्रमण एवं श्रमणी के लिए ब्रह्मचर्य की सुरक्षा आवश्यक है। अन्य व्रतों में अपवाद या छूट है लेकिन इस व्रत में कोई छूट नहीं है। शास्त्रकारों ने यहाँ तक कहा है कि प्राणत्याग स्वीकार कर लें लेकिन ब्रह्मचर्य खण्डित नहीं करें। अत: साधक को उन सभी अब्रह्मचर्य के स्थानों को, विघातक तत्त्वों को, काम में फँसाने वाले चक्रव्यूहों को देखना चाहिए जिससे साधक सुरक्षित रहकर बच सके। इसके लिए समवायांग सूत्र के 25वें समवाय में पाँच भावनाएँ बतायी हैं-(1) स्त्री-पशु नपुंसक शयन-आसन वर्जनता अर्थात् स्त्री, पशु, नपुसंक, दुराचारी मनुष्यों के सम्पर्क वाले स्थान पर सोने-बैठने का त्याग किया जाए। (2) स्त्री कथा विवर्जनता अर्थात् स्त्रियों की रागवर्धक कथाओं का त्याग किया जाए। (3) स्त्री इन्द्रिय (मनोहराङ्ग) आलोकन वर्जनता अर्थात् स्त्रियों के मनोहर अंगोपांगों को देखने का त्याग हो। (4) पूर्वरत पूर्व क्रीडा अनुसरणता अर्थात् पूर्वकाल में स्त्री के भोगे हुए भोगों को और काम क्रीड़ाओं को याद न करें। (5) प्रणीत आहार विवर्जनता अर्थात् पोष्टिक, गरिष्ठ व रस बाहुल आहार-पान का त्याग हो।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए आचाराङ्गसूत्र में भी इन भावनाओं का वर्णन निम्न प्रकार किया है:-

(1) स्त्री कथा विरति भावना-साधक स्त्री में राग उत्पन्न होने वाली कथा न करे। जैसे केवल स्त्रियों में बैठकर उपदेश देना, वैराग्य के स्थान पर कामवर्धक उपदेश देना, स्त्रियों के हाव-भाव या विलास युक्त कहानियाँ सुनाना, शृंगार रस के किस्से कहना, आलिंगन-चुम्बन आदि का वर्णन करना इत्यादि। साधक के लिए इस प्रकार की कथाएँ कहना वर्जित है, क्योंकि इनसे साधक की शान्ति भंग एवं ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित होता है।

(2) स्त्री रूप विरति भावना-नारी के रूप को आसक्ति पूर्वक देखना, उनका चिन्तन करना और वाणी द्वारा कथन करना, घातक तत्त्वों का दूसरा मोर्चा है। अत: स्त्री के रूप-लावण्य, मधुर मुस्कराहट, विकारयुक्त वचन, अंग-प्रत्यांगों की चेष्टाएँ,

कटाक्षों से निरीक्षण, आँखों का विलास, मदमाती चाल, क्रीडाएँ, कामोत्तेजक सम्भाषण, नृत्य, गीत, वाद्य, वादन, शरीर की लम्बाई, मोटाई, रंग, रूप, यौवन, स्थान, अधर शृंगार आदि से साधु को बचना चाहिए अर्थात् काम-विकार करने वाली सभी क्रियाओं से बचे।

(3)पूर्व रति आदि स्मरण त्याग भावना- कई बार साधु के सामने न स्त्री होती है और न कामोत्तेजक पदार्थ लेकिन पूर्व में की गयी काम एवं रति क्रियाओं का स्मरण भी साधक के मन को विकारी बना देता है। इतना ही नहीं, विविध प्रकार के खेल-तमाशे, नाटक, नृत्य, गीतों द्वारा अश्लील मनोरंजन को याद करना भी घातक तत्त्व बन जाता है। अत: इनका स्मरण नहीं किया जावे।

(4) प्रणीताहार-समिति भावना- ब्रह्मचर्य व्रत पर आहार का, खाद्य पदार्थों का गहरा प्रभाव पड़ता है। उत्तेजक, तामसी, चटपटा, स्वादिष्ट, गरिष्ठ भोजन ब्रह्मचर्य के लिए हानिकारक है। अत: कहा गया है कि इन्द्रियों में रसना, कर्मों में मोहनीय, व्रतों में ब्रह्मचर्य और गुप्तियों में मनोगुप्ति इत्यादि को जीतना कठिन है। दृढ़ संकल्पी साधक भूख का आधा हिस्सा व्यंजन सहित आहार लेवें, एक तिहायी जल से भरें और शेष छठा हिस्सा वायु के संचार हेतु खाली रखें। इस प्रकार स्वाद को जीतने वाला ब्रह्मचर्य व्रत को आसानी से दृढ़तापूर्वक पालता है।

(5)स्त्री संसक्त निवास त्याग समिति भावना-ब्रह्मचर्य साधक को ऐसे स्थान पर रहना चाहिए जहाँ व्रतखण्डन का खतरा न हो, जहाँ स्त्रियों का संसर्ग न हो। साधु को वहाँ नहीं रहना चाहिए जहाँ स्त्रियाँ सोती हों, बैठती हों, दरवाजे से बार-बार आवागमन हो, झरोखे से बार-बार स्त्रियों की दृष्टि पड़ती हो।

इन भावनाओं के अतिरिक्त बह्मचर्य व्रत को सुरक्षित रखने के लिए नव प्रकार की वाडों का भी पालन करना भी साधक के लिए बताया गया है।

5. अपरिग्रह महाव्रत-श्रमण निर्ग्रन्थ अणगार संकल्प करता है कि-'वह स्वयं को परिग्रह से मुक्त रखेगा। चाहे वह परिग्रह मूल्य और प्रमाण में अल्प या बहुत हो, सूक्ष्म या स्थूल हो अथवा सजीव या निर्जीव हो। साधक चाहे गाँव में रहे, जंगल में रहे या शहर में रहे वह परिग्रह का त्याग तीन करण-तीन योग से करेगा।' लेकिन जीवनपयोगी वस्तुओं की साधक को आवश्यकता होती है, जैसे- पात्र, वस्त्र, औषध, भेषज, रजोहरण आदि। ये सभी ममत्व भाव एवं आसक्ति भाव से न होने

के कारण परिग्रह की श्रेणी में नहीं आतीं क्योंकि ये संयम के लिए उपयोगी होती हैं तथा साधक इन पर मूर्छाभाव नहीं रखता। लेकिन साधु मन ही मन वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, स्त्रियाँ, शयनीय पाने की लालसा करता है तो उसे परिग्रह का त्यागी नहीं कहा जा सकता।

समवायाङ्गसूत्र, समवाय 25 एवं आचाराङ्ग सूत्रानुसार श्रमण को अपरिग्रही रहने के लिए पाँच भावनाएँ पुष्टि प्रदान करती हैं। परिग्रह त्याग व्रत की रक्षा के लिए पाँचों इन्द्रियों के विषय में शब्दादि इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष का त्याग आवश्यक है। इसलिए श्रोतेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। जो साधु अनायास प्राप्त मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को पाकर आसक्ति नहीं करता और अमनोज्ञ अशुभ शब्दादि को पाकर द्वेष नहीं करता वह वास्तव में विरत है, पण्डित है, दान्त है और अपरिग्रही है।

इस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ पञ्च महाव्रतों की सुरक्षा करके परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

-25, बैंक कॉलोनी, महेश नगर विस्तार-बी, गोपालपुरा बाईपास, जयपुर

मोहनीय कर्म के 52 नाम

क्रोध कषाय के दश-क्रोध, कोप, रोष, द्वेष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, चण्डिक्य, भण्डन, विवाद।

मान कषाय के ग्यारह-मान, मद, दर्प, स्तम्भ, आत्मोत्कर्ष, गर्व, परपरिवाद, अपकर्ष, परिभव, उन्नत, उन्नाम।

माया कषाय के सत्तरह-माया, उपाधि, निकृति, वलय, गहन, न्यवम, कल्क, कुरुक, दम्भ, कूट, जिम्ह, किल्विष, अनाचरणता, गूहनता, वञ्चनता, पलिकुञ्चनता, सातियोग।

लोभ कषाय के चौदह-लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, कांक्षा, गृद्धि, तृष्णा, भिध्या, अभिध्या, कामाशा, भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा, नन्दी, राग।

-समवायाङ्गसूत्र, समवाय 52

चित्त की अशान्ति के कारण

जिनेन्द्र कुमार जैन, जयपुर

चित्त की अशान्ति व्यक्ति के असमाधि में होने से है। 'सम्' तथा 'आ' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से 'कि' प्रत्यय करने से समाधि शब्द व्युत्पन्न होता है। जिसका तात्पर्य यहाँ स्थापना करने से है। समाधान से है।

उत्तराध्ययनसूत्र अ. 29 में सूत्र 56 से 58 में समाधारणता के तीन सूत्र प्रतिपादित किये हैं। इस समाधारणता का अभिप्राय समाधि ही है। जवाहर किरणावली में इन सूत्रों का विवेचन करते हुए पूज्य आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. ने भी इस समाधारणता का तात्पर्य समाधि ही किया है।

इन सूत्रों में मन, वचन एवं काया की समाधारणता बताई गई है। इससे पूर्व के तीन सूत्रों में तीन गुप्तियों की बात कही हैं। मन को किसी बुरे कार्य में प्रवृत्त नहीं होने देना-मन गुप्ति है तथा इसे सत्य मार्ग में स्थापित करना मन समाधारणता है अर्थात् मन की समाधि है। बहिर्मुख न होने देना मन गुप्ति है तथा मन गुप्ति की सुरक्षा हेतु मन को अन्तर्मुख बनाना मन की समाधि है। अधिकतर प्रतियों में गुप्ति का अर्थ अशुभ से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्ति कहा है। शुभ में प्रवृत्ति समाधारणता है, समाधि है। शुभ में प्रवृत्ति से पूर्व अशुभ से निवृत्ति अत्यावश्यक है।

सूत्रों के अन्तर्गत मन गुप्ति तथा मन समाधारणता दोनों से एकाग्रता की प्राप्ति होना कहा गया है। यहाँ गुप्ति एवं समाधारणता का स्वरूप स्पष्ट होता है कि गुप्ति मात्र निरोध-निषेधात्मक-निवृत्ति रूप ही है और समाधारणता प्रवृत्ति रूप है। मन को अशुभ से निवृत्त तथा शुभ में प्रवृत्त कराने से एकाग्रता प्राप्त होगी। एकाग्रता से ज्ञान के पर्यव प्राप्त होते हैं। मन समाधारणता से एकाग्रता की प्राप्ति होने से कार्य का कारण में उपचार करके मन समाधारणता को आप्टे आदि शब्दकोशों में समाधि कहा गया है। अर्थात् समाधि का अर्थ अनेक स्थानों पर मन की एकाग्रता भी किया गया है।

भगवती आराधना 67/194/8 अनुसार-**'समेकीभावे वर्तते तथा च प्रयोग:-संगतं तैलं संगतं घृतमित्यर्थं एकीभूतं तैलं एकीभूतं धृतमित्यर्थ:**

समाधानं मनसः एकाग्रता करणं शुभोपयोगे शुद्धे वा।' सम शब्द का अर्थ एकरूप करना है जैसे-घृत संगत हुआ, तैल संगत हुआ। मन को शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग में एकाग्र करना समाधि है। (शुद्धोपयोग का प्रयोग दिगम्बर मान्य ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है।)

महापुराण 21/226 अनुसार-**'यत्सम्यक् परिणामेषु चित्तस्याधानमञ्जसा। स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम्।'** उत्तम परिणामों में जो चित्त का स्थिर रखना है वहीं यथार्थ में समाधि या समाधान है अथवा पंच परमेष्ठियों के स्मरण वो समाधि कहा है।

स्याद्वाद् मञ्जरी 17/229/16 टीका अनुसार-**'बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणं समाधिः'** बहिर् और अन्तर्जल्प के त्याग रूप योग है और स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है।

परमात्म प्रकाश 2/190 के अनुसार समस्त विकल्पों का नाश होना परम समाधि है। ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती है, विकल्प कम होते ही हैं।

मन समाधि की तरह वचन की समाधि का कथन भी है। वचन को सत्य मार्ग में स्थापित करना वचन समाधि है। बुरे वचनों से निवृत्त होना, उनको रोकना वचन गुप्ति है तथा परमात्मा आदि के गुणगान आदि में प्रवृत्त होना मन समाधारणता है, मन समाधि है। जैसे-नमोकार मन्त्र, लोगस्स आदि के जाप करना इत्यादि। वचन निरोध से जीव विकार रहित होता है तथा वचन के सदुपयोग से सम्यक्त्व निर्मल होता है।

काया को संयम में स्थापित करना काय समाधि है। अप्रशस्त कार्यों से शरीर को निवृत्त करना काय गुप्ति है। कायिक निरोध से संवर होता है तथा काया को संयम में स्थापित करने से चारित्र की पर्यायों को विशुद्ध करता है।

मन समाधि से निर्मल ज्ञान, वचन समाधि से निर्मल सम्यक्त्व तथा काय समाधि से निर्मल चारित्र की प्राप्ति होना बताया है। कार्य का कारण में उपचार करके निर्मल ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को भी समाधि कहा जा सकता है। साररूप में कह सकते हैं कि समाधि चित्त की शान्ति है। जिन कार्यों से चित्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्षमार्ग में लगा रहे उसे समाधि कहते हैं।

समवायाङ्गसूत्र के 20वें समवाय में 20 असमाधि स्थान बताये हैं। अर्थात् ये सभी चित्त की अशान्ति के कारण हैं। चाहे असमाधि मन से हो अथवा वचन से हो अथवा काया से, इनसे चित्त की अशान्ति ही होती है। हालाँकि ये असमाधि स्थान साधु को लक्ष्य में रखकर बताये गये हैं किन्तु किञ्चिद् गृहस्थ के लिए भी उपयोगी हैं। यथा-

1. यदि साधु जल्दी-जल्दी चले तो असमाधि का कारण है। जल्दी-जल्दी चलने में अयतना है, षट्कायिक जीवों की हिंसा की सम्भावना होने से प्राणातिपात पाप है। काया की प्रवृत्ति अप्रशस्त होने से काय असमाधारणता है।

2. बिना पूँजे चलना, बैठना, सोना आदि क्रियाएँ करने से हिंसा हो सकती है, अत: प्राणातिपात पाप है। काया की प्रवृत्ति अप्रशस्त होने से यह भी काय असमाधारणता है।

3. भलीभाँति नहीं पूँजने से भी जीवहिंसा की सम्भावना है। प्रवृत्ति में प्रमाद है और प्रमाद भी हिंसा ही है, प्राणातिपात पाप है। प्रमाद रूप काया की प्रवृत्ति अप्रशस्त होने से यह भी काय असमाधारणता है।

उपर्युक्त तीनों में ईर्या समिति का पालन भलीभाँति नहीं है जो कि संयमी-जीवन का अनिवार्य अंग है। यहाँ गृहस्थ के लिए यह ध्यातव्य है कि अयतना से, अधीरता से, प्रमाद से, चित्त की अशान्ति कही है। गृहस्थ को भी अपने सभी कार्य जल्दबाजी में सम्पन्न नहीं करके धैर्यपूर्वक यतना के साथ तथा अप्रमत्त होकर सम्पन्न करने चाहिए। यतना से अर्थात् सावधानी से-धीरता से कार्य करना शान्ति का मूलमन्त्र हो सकता है।

4. मर्यादा से अधिक शय्या, आसनादि रखना परिग्रह रूप पाप है। इससे आदान भण्ड मात्र निक्षेपणा समिति का सम्यक् परिपालन होना कठिन है, क्योंकि वस्तुएँ अधिक हैं। परिग्रह शरीर की साता का हेतु होने से काय असमाधारणता है। यहाँ गृहस्थ के लिए यह ध्यातव्य है कि जीवन में शान्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं का ही संग्रह हो।

5. रत्नाधिक साधु आदि के सामने बोलकर उनका अपमान करना कलह का कारण है जो भी पाप है। यह भाषा समिति का उचित परिपालन नहीं है। यहाँ गृहस्थ

के लिए यह ध्यातव्य है कि परिवार में शान्ति हेतु बड़ों के वचनों को सम्मान दे, उनके वचनों को काटे नहीं तथा उनसे जवान नहीं लड़ावें। वचनों का अप्रशस्त प्रयोग होने से वचन असमाधारणता है।

6. स्थविर साधुओं की अवज्ञा करना, उनकी घात चिन्तवना, यह भी हिंसा है। यहाँ क्रोध भी है, द्वेष भी है। मन में क्रोध भावना एवं द्वेष होने से मन असमाधारता है। यहाँ गृहस्थ के लिए यह ध्यातव्य है कि परिवार में शान्ति हेतु बड़ों की आज्ञा को शिरोधार्य करें।

7. साता-विभूषा के निमित्त जीवों का घात करने से हिंसा के साथ-साथ रति-अरति का पाप भी है। यह काय असमाधारणता है। यह ध्यातव्य है कि मानसिक शान्ति हेतु हिंसात्मक प्रसाधनों का दैनिक जीवन में प्रयोग कम से कम हो।

8. पल-पल में क्रोध करने से क्रोध एवं द्वेष रूप पाप हैं। क्रोध से बोलने में विवेक नहीं रह सकता। अत: भाषा समिति नहीं पल सकती। अप्रशस्त वचनों के प्रयोग से वचन असमाधारणता है। द्वेष हो तो मन असमाधारणता भी है।

9. सदैव क्रोध में जलते रहने से क्रोध एवं द्वेष रूप पाप हैं। अत्यधिक क्रोध से भाषा समिति का परिपालन कैसे हो सकता है? अनियन्त्रित, अमर्यादित वचन प्रयोग से वचन असमाधारणता है। यदि द्वेष है तो मन असमाधारणता भी है।

10. पीठ पीछे दूसरों की चुगली करे, निन्दा करे तो पैशून्य नामक पाप है। दूसरे की निन्दा करने वाला निन्दित व्यक्ति के प्रति उचित भाषा का प्रयोग कर ही नहीं सकता। अत: भाषा समिति का पालन सम्भव नहीं। अनुचित, अप्रशंसनीय, निन्दित वचनों के प्रयोग से वचन असमाधारणता है।

11. मन में शंका होते हुए भी निश्चयकारी भाषा बोले अथवा ऐसी निश्चयकारी भाषा बोले जिससे दूसरों का अहित हो तो मृषावाद रूप पाप है। क्लेशकारी, पीड़ाकारी भाषा का प्रयोग साधु के लिए निषिद्ध होने से यह भाषा समिति नहीं है। निश्चयकारी, क्लेशकारी, पीड़ाकारी वचनों के प्रयोग से वचन असमाधारणता है।

12. नया क्लेश उत्पन्न करने से कलह एवं द्वेष रूप पाप हैं। भाषा क्लेशकारी होने से भाषा समिति नहीं है। क्लेशकारी भाषा होने से वचन असमाधारणता है। द्वेष होने पर मन असमाधारणता भी है।

13. जो क्लेश उपशान्त हो चुका है, उसे पुन: उत्पन्न करने से कलह एवं द्वेष

रूप पाप हैं। यहाँ भी अपने वचनों पर नियन्त्रण नहीं होने से, बिना विचारे बोलने से भाषा समिति नहीं है। अमर्यादित वचनों के प्रयोग से वचन असमाधारणता है। यदि द्वेष के साथ वचनों का प्रयोग हो तो मन असमाधारणता भी है।

उपर्युक्त छह (8-13) असमाधि स्थानों से गृहस्थ के लिए यह ध्यातव्य है कि परिवार में शान्ति हेतु क्रोध पूर्वक, अनुचित, अमर्यादित, अप्रशंसनीय, निन्दित, निश्चयकारी, क्लेशकारी वचनों के प्रयोग से प्रत्येक व्यक्ति को बचना है।

14. सचित्त रज लगे हुए हाथ-पैरों से सोना, बैठना, आहारादि ग्रहण करना इत्यादि हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, पाप है। इन प्रवृत्तियों से एषणा समिति का सम्यक् पालन नहीं है। हिंसात्मक प्रवृत्ति होने से काय असमाधारणता है।

15. अकाल में स्वाध्याय करने से-उस काल में ज्ञान प्राप्ति का निषेध होने से अदत्तादान पाप है। उचित समय में नहीं होने से यह भी एक प्रकार से वचन असमाधारणता है।

यहाँ गृहस्थ के लिए यह ध्यातव्य है कि जीवन को शान्तिपूर्ण जीने के लिए सभी कार्य समयानुरूप ही सम्पन्न करें। जिस समय जो कार्य करना चाहिए, उसी समय ही वह कार्य करें। समय पर कार्य को सम्पन्न भी करें।

16. आक्रोशित वचनों का प्रयोग कर कलंक आदि लगाकर परस्पर कलह उत्पन्न करे तो हिंसा के साथ-साथ अभ्याख्यान नामक पाप भी है। जो गलत कार्य नहीं किया गया है उसका अन्य पर आरोपण करने से भाषा समिति का परिपालन सम्भव नहीं है। आक्रोशित वचनों के प्रयोग से एवं झूठे दोषारोपण से वचन असमाधारणता है।

गृहस्थ को भी यह चाहिए कि बिना कारण किसी पर आरोप नहीं लगावें। यह भी मानसिक शान्ति का सूत्र है।

17. रात्रि में प्रथम प्रहर के बाद ऊँचे स्वर में स्वाध्याय करे तो इसे भी हिंसा रूप पाप ही कहा है। यह मानसिक रूप से हिंसा है। काल का उपयोग न रखने से भाषा समिति नहीं है। काल का ध्यान नहीं रखकर ऊँचे स्वर में बोलने से वचन असमाधारणता है।

18. इस प्रकार वचन कहे कि सम्पूर्ण समुदाय में अर्थात् गच्छ में ही फूट पड़

जावे तो कलह, द्वेष एवं अभ्याख्यान नामक पाप हैं। यह गच्छ के लिए तो अहितकर है ही, सर्व सामान्य के लिए भी श्रद्धाभ्रष्ट होने रूप है। घोर अनर्थकारी भाषा होने से भाषा समिति रही ही नहीं। वचनों के प्रयोग मर्मकारी, भेदकारी होने से वचन असमाधारणता है। यदि द्वेषपूर्वक वचन कहे तो मन असमाधारणता भी है।

गृहस्थ को परिवार में शान्ति हेतु परस्पर समन्वय पूर्ण व्यवहार की, मधुर वचनों के प्रयोग की अति आवश्यकता है। परिवार में आपसी वैर उत्पन्न हो वैसे वचनों का प्रयोग किसी भी परिस्थिति में नहीं करें तो निश्चित ही परिवार में शान्ति रहेगी। जिससे किसी का मर्म प्रकट हो, भेद प्रकट हो ऐसे वचन नहीं बोले तो परस्पर प्रेम बढ़ेगा। यह परिवार में शान्ति का सूत्र है।

19. सूर्योदय से सूर्यास्त तक कुछ न कुछ खाता ही रहे तो अदत्तादान एवं रति-अरति पाप हैं। आहार अधिक लाने एवं बार-बार लाने से एषणा समिति का परिपालन भी अत्यन्त कठिन है। आहार पर नियन्त्रण नहीं होने से काय असमाधारणता है।

सारे दिन भोजन में ही मन लगाये रखना अशान्ति का कारण है। अत: गृहस्थ को चाहिए कि उचित समय पर उचित मात्रा में ही भोजन ग्रहण करें।

20. अनैषणीय अप्रासुक आहार का सेवन करने से प्राणातिपात पाप है। एषणा समिति का सम्यक् पालन नहीं है। अनियन्त्रित आहार-ग्रहण से काय असमाधारणता है।

परिवार में शान्ति हेतु जिस भोजन में हिंसा अधिक हो वैसे भोजन को गृहस्थ ग्रहण नहीं करे। साग-सब्जी आदि का पूर्णरूपेण शोधन करके ही भोजन बनावें।

उपर्युक्त 20 असमाधि स्थान साधु-साध्वियों को लक्ष्य में रखकर कहे गये हैं। ये सभी ऐसे कृत्य हैं जिनको करने से चित्त अशान्त होता है तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मार्ग से साधु-साध्वियाँ भटक जाते हैं। यही साधु-साध्वियों के लिए असमाधि है। इन 20 कारणों से स्व-पर अथवा दोनों को इहलोक-परलोक में असमाधि उत्पन्न होती है। अत: साधु-साध्वियों को चाहिए कि वे इन 20 कारणों का वर्जन करके आगमानुसार प्रवृत्ति करें। साधु ही नहीं किसी न किसी रूप में प्रत्येक आत्मार्थी को, प्रत्येक गृहस्थ को इन प्रवृत्तियों से बचना चाहिए।

महामोहनीय कर्म : एक पर्यवेक्षण

-त्रिलोकचन्द जैन, जयपुर

कर्माधीन प्रत्येक प्राणी इस संसार में दु:ख से सन्तृप्त है। सभी प्राणियों की इस दु:ख-परम्परा का मूल कारण संयोग है, जिसे कर्मविज्ञान के शब्दों में कर्मबन्ध कहा जाता है। जैसा कि कहा है-'संजोग मूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरम्परा।'

वैसे तो प्रति समय सभी प्रमादी संसारी जीव 7 या 8 कर्मों का निरन्तर बन्ध कर रहे हैं। लेकिन जैसे आज वैज्ञानिक सर्दी-गर्मी, हवा, वर्षा आदि के तारतम्य को मापने के लिए यन्त्रों के रूप में थर्मामीटर, बेरामीटर आदि का उपयोग करते हैं, वैसे ही कर्मशास्त्र के विज्ञ कर्मबन्ध की तीव्रता-मन्दता को मापने के लिए अनेक प्रकार से व्याख्या करते हैं।

(अ) कर्मबन्ध की तीव्रता-मन्दता (तारतम्य) को मापने हेतु प्रथम प्रकार है-(1) स्पृष्ट (2) बद्ध (3) निद्धत और (4) निकाचित।[1]

(1) स्पृष्ट कर्मबन्ध-जैसे किसी ने वस्त्र को पिसी हुई हल्दी के ढेर पर रख दिया तो हल्दी के रजकण उस वस्त्र पर लग जाते हैं, परन्तु वस्त्र को झटकने से वे रजकण झड़ जाते हैं। इसी प्रकार स्पृष्ट कर्मबन्ध की अवस्था में भावसहित 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहने से वे कर्म झड़ जाते हैं।

(2) बद्ध कर्मबन्ध-एक वस्त्र पर तेल लगा होने से वह चिकना है और उसको पिसी हुई हल्दी के ढेर पर रख दिया तो उस पर अधिक मजबूती से हल्दी के कण चिपक जायेंगे। जब तक उस वस्त्र को पानी और साबुन लगाकर न धोया जाए तब तक वह हल्दी का रंग नहीं उतरेगा। इस प्रकार का कर्मबन्ध बद्ध कर्मबन्ध है जो आलोचना-प्रतिक्रमण आदि के द्वारा झड़ जाता है।

(3) निद्धत्त कर्मबन्ध- एक वस्त्र ऐसा है जिस पर अलकतरा (ग्रीस) चिपका हुआ है। अलकतरे (ग्रीस) का गाढ़ा लेप साफ करने के लिए साबुन और पानी से काम नहीं चलेगा, उसके लिए उस कपड़े को मिट्टी के तेल से धोना पड़ता है तब जाकर वह अलकतरा निकलता है। इसी प्रकार निद्धत्त कर्मबन्ध ऐसा है जो पूर्वोक्त आलोचनादि क्रियाओं से दूर नहीं होता, उसके लिए तपस्या, प्रायश्चित्त आदि सुदीर्घ एवं कठिन अनुष्ठान करना पड़ता है।

(4)निकाचित-कर्मबन्ध-चौथे प्रकार का वस्त्र तेल, अलकतरा (ग्रीस) और धूल के कण आदि से इतना मलिन हो गया है कि साबुन और मिट्टी का तेल लगाने पर भी उसका मैल नहीं छूटता। वह कपड़ा फट जायेगा लेकिन मैल नहीं छूटेगा। यह है निकाचित कर्मबन्ध जो प्रायश्चित्त, तप आदि से भी प्राय: नहीं छूटता। उसका प्राय: फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।

श्री विजयलक्ष्मण सूरी ने कर्म फिलोसोफी में इन्हें (1) ढीला बन्ध (2) इससे जरा मजबूत बन्ध (3) इससे भी अधिक मजबूत बन्ध और (4) इन सबसे भी अत्यन्त पक्का बन्ध जो प्राय: कभी खुल न सके, आदि के रूप में कहा है।

(ब) कर्मबन्ध की तीव्रता-मन्दता को मापने हेतु द्वितीय प्रकार है-

(1) एक-स्थानिक (2) द्विस्थानिक (3) त्रिस्थानिक और (4) चतु:स्थानिक।

अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को नीम के कड़वे रस की उपमा दी जाती है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे नीम का रस कटुक होता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियों का रस अशुभ फल देने के कारण बुरा समझा जाता है। यद्यपि इस बुरे रस के असंख्य प्रकार हैं यानी एक-एक के असंख्य प्रकार जानना चाहिये, लेकिन उन सबका समावेश चार स्थानों में हो जाता है। इन चार प्रकारों को क्रमश: एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु:स्थानिक कहा जाता है। एकस्थानिक से तात्पर्य तीव्र, द्विस्थानिक से तीव्रतर, त्रिस्थानिक से तीव्रतम और चतु:स्थानिक से अत्यन्त तीव्र का ग्रहण है। इनको इस तरह समझना चाहिये कि जैसे नीम का तुरन्त निकला हुआ रस स्वभाव से ही कटुक होता है जो उसकी एकस्थानिक तीव्र अवस्था है। जब उस रस को अग्नि पर पकाने से वह सेर का आधा सेर रह जाता है तो वह कटुकतर हो जाता है, यह अवस्था द्विस्थानिक तीव्रतर है। सेर का तिहाई रहने पर कटुकतम हो जाता है, यह त्रिस्थानिक तीव्रतम अवस्था है और जब सेर का पाव भर रह जाता है जो अत्यन्त कटुक है, यह चतु:स्थानिक अत्यन्त तीव्र अवस्था होती है। यह अशुभ प्रकृतियों के तीव्र रस (अनुभाग) की चार अवस्थाओं का दृष्टान्त है।[2]

(स) कर्मबन्ध की तीव्रता-मन्दता को नापने हेतु तृतीय प्रकार है-

(1) अनन्तानुबन्धी (2) अप्रत्याख्यानी (3) प्रत्याख्यानावरण और (4) संज्वलन।

(1) अनन्तानुबन्धी-जो बन्ध अनन्त संसार का अनुबन्ध कराने वाले हैं उन्हें अनन्तानुबन्धी कहते हैं। इस बन्ध के प्रभाव से आत्मा अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करती है। यह बन्ध सम्यक्त्व का घात करता है और जीवन पर्यन्त बना रहता है।

(2) अप्रत्याख्यानी- जिस बन्ध से आत्मा यत्किंचित् भी त्याग-प्रत्याख्यान नहीं कर सकती, उसे अप्रत्याख्यानी बन्ध कहते हैं। यह बन्ध आत्मा को पापों से विरत नहीं होने देता। इस बन्ध की अवधि अधिक से अधिक एक वर्ष की मानी गई है।

(3) प्रत्याख्यानावरण-जिसके बन्ध से सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान अर्थात् श्रमण-धर्म (महाव्रत) की प्राप्ति नहीं होती वह प्रत्याख्यानावरण बन्ध है। इसकी स्थिति चार मास की है।

(4) संज्वलन-जिस बन्ध से आत्मा को यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति न हो, वह संज्वलन बन्ध है। यह केवलज्ञान की उत्पत्ति में बाधक बनता है। इस बन्ध की अधिक से अधिक अवधि पन्द्रह दिन की है।[3]

इन चार प्रकार की कर्मबन्ध की तीव्रता के भी 64 प्रकार हो जाते हैं। अनन्तानुबन्धी आदि चारों ही प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ होने से 16 प्रकार होते हैं। फिर अनन्तानुबन्धी क्रोध का रस अनन्तानुबन्धी सदृश, अप्रत्याख्यानी सदृश, प्रत्याख्यानावरण सदृश और संज्वलन सदृश ऐसे चार प्रकार का हो सकता है। इसी प्रकार शेष 15 कषायों के भी चार-चार प्रकार होने से 16 कषायों के कुल 64 प्रकार भी हो जाते हैं।[4]

कर्म के भेद तथा मोहनीय कर्म

'तत्त्वार्थवार्तिक' में एक रूपक के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है, 'जिस प्रकार विभिन्न बादलों का जल विभिन्न पात्रों में गिरकर भिन्न-भिन्न रसों में परिणत हो जाता है इसी प्रकार कर्मबन्ध भी आठ मूल-प्रकृति रूपी कर्म प्रकृतियों में परिणत हो जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं-(1) ज्ञानावरणीय (2) दर्शनावरणीय (3) वेदनीय (4) मोहनीय (5) आयुष्य (6) नाम (7) गोत्र और (8) अन्तराय।

वस्तुत: मोह कर्म ही अपेक्षा से 8 कर्म है। क्योंकि इसके नाश होने पर शेष सात कर्म की सत्ता भी अवश्यमेव समाप्त हो जाती है। लेकिन जब विशेष रूप से

कथन करते हैं तो मोहनीय कर्म 8 कर्मों का मेरुदण्ड है, जो आठों ही कर्मों को शक्ति प्रदान करता है।

निर्युक्तिकार ने भी आठ प्रकार के कर्मों को संक्षेप में मोह कहा है।[4] निर्युक्ति में मोह के एकार्थक नामों का उल्लेख किया गया है-पाप, वर्ज्य, वैर, पंक, क्षोभ, असाता, शल्य, कर्म, क्लेश, मलिन, माया तथा सम्पराय।

मोहनीय कर्म एकान्त अशुभ होता है। इसका बन्ध सघन और चिकना होता है। इसका अनुबन्ध दु:खमय और दीर्घ स्थिति वाला होता है। तीव्र प्रयत्न से इसका क्षय होता है।

सामान्यतया मोहनीय कर्म का बन्ध छह कारणों से होता है-(1) तीव्र क्रोध करने से (2) तीव्र मान करने से (3) तीव्र माया करने से (4) तीव्र लोभ करने से (5) तीव्र दर्शनीय मोहनीय से (6) तीव्र चारित्र मोहनीय से।

उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा से दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्मबन्ध के कारण पृथक्-पृथक् बताये गये हैं। 'स्थानांग सूत्र' के अनुसार दर्शन मोहनीय कर्म बन्ध के पाँच कारण बताये हैं[6]-(1) अरिहन्त भगवन्तों का अवर्णवाद (निन्दा) करने से (2) अरिहन्त-प्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद करने से (3) आचार्य-उपाध्याय का अवर्णवाद करने से (4) श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ का अवर्णवाद करने से (5) तपस्वी और ब्रह्मचारी का अवर्णवाद करने से। क्रोध, मानादि कषाय और हास्यादि नव नो कषायों में आसक्त चारित्र आत्मा चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध करती है। यह सब मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं। जब इन कारणों में तीव्र संक्लेश के साथ अशुभ अध्यवसाय हों तो वे महामोहनीय कर्म के कारण बन जाते हैं।

महामोहनीय कर्म

मोहनीय कर्म के आगे 'महा' का लगना उसकी भयंकरता को द्योतित करता है। महामोहनीय कर्म का बन्ध जीव के पतन की निशानी है जीव के गर्त में जाने का कारण है। महामोहनीय कर्म कषाय, आसक्ति, द्वेष आदि विषम भावों की तीव्रता का परिणाम है।

आत्मा को आवृत्त करने वाले पुद्गल महामोहनीय कर्म कहलाते हैं। अध्यवसायों

की तीव्रता या क्रूरता के साथ होने वाली प्रवृत्ति से होने वाला बन्ध महामोहनीय कहलाता है।

परिणामों की कलुषता, मलिनता, दूषितता आदि अत्यन्त तीव्र होती है तो उससे बड़े ही वज्रलेपोपम चिकने कर्म बँधते हैं, जिन्हें सिद्धान्त की भाषा में महामोहनीय कहा जाता है। इनका क्षय होना अत्यन्त दुष्कर है।[7]

स्वरूप/लक्षण

कर्मबन्ध की डिग्रियों के रूप में तीन प्रकार का विश्लेषण पूर्व में किया गया है। इसमें यह ध्यातव्य है कि महामोहनीय कर्म के स्वरूप में कर्मबन्ध की स्थिति (काल) की अपेक्षा न होकर उसके अनुभाग (रस) की तीव्रता की अपेक्षा है। निकाचित कर्म को अपेक्षा से महामोहनीय कर्म की संज्ञा दे सकते हैं क्योंकि यह तीव्र अशुभ अध्यवसायों का परिणाम है।

चतु:स्थानिक अशुभ अनुभाग का उत्कृष्ट बन्ध भी महामोहनीय कर्म का एक रूप है। क्योंकि स्थिति अन्त:कोटाकोटि सागरोपम के बन्ध में भी चतु:स्थानिक महामोहनीय कर्म का अनुभाग बन्ध सकता है तो 70 कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति में भी महामोहनीय कर्म का अनुभाग बन्ध सकता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय के अत्यन्त तीव्र उदय में-तीव्र संक्लेश परिणामों में महामोहनीय कर्म का बन्ध स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि इसके अत्यन्त तीव्र उदय में नरक गति में गमन भी निर्दिष्ट है।

वस्तुत: अनन्तानुबन्धी कषाय के अत्यन्त तीव्र उदय में उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों में चतु:स्थानिक उत्कृष्ट रसबन्ध के साथ कर्म पुद्गलों का निकाचित अवस्था को प्राप्त होना महामोहनीय कर्म का स्वरूप है।

स्वामी-महामोहनीय कर्मबन्ध के स्वामी प्रथम गुणस्थानवर्ती अनादि मिथ्यादृष्टि और प्रतिपाती मिथ्यादृष्टि होते हैं। तीव्र अशुभ अध्यवसाय में तीव्र अशुभता प्रथम गुणस्थान में ही हो सकती है। आगम में साधु को महामोहनीय कर्मबन्ध से बचने की बात कही वह वस्तुत: साधुत्व से नीचे गिरने से बचाने की अपेक्षा है। क्योंकि छठे गुणस्थानवर्ती साधु के लिए अशुभ चतु:स्थानिक कर्मबन्ध का होना शक्य नहीं है। महामोहनीय कर्म का बन्ध प्रथम गुणस्थान में ही होना सम्भव है।

बन्धस्थान–समवायांग सूत्र के 30वें समवाय में तथा दशाश्रुतस्कन्ध की नवीं दशा में महामोहनीय कर्मबन्ध के 30 स्थानों का वर्णन है। प्रश्नव्याकरण सूत्र की वृत्ति तथा उत्तराध्ययन सूत्र की वृत्ति में भी महामोहनीय कर्म बन्ध के 30 कारण बताये हैं। वे प्राय: समान हैं। समवायांग सूत्र में जो 2, 3, 4, 5वाँ महामोहनीय कर्मबन्ध का कारण है, दशाश्रुत स्कन्ध में वह क्रमश: 3, 4, 5वाँ तथा दूसरा कारण है। इस किंचित् परिवर्तन के अलावा शेष कारण समान क्रमांक से बताए गये हैं। ये प्रमुख 30 कारण हैं परन्तु आसक्ति की तीव्रता से अन्य कारण भी हो सकते हैं।

18 पापों में समावेश–18 पाप की अवधारणा हमें अनेक स्थानों पर जानने को मिलती है। ऐसा लगता है कि प्रथम पाँच पाप की ही प्रमुखता की दृष्टि से अधिक विवक्षित हैं, क्योंकि प्रथम पाँच पापों का पूर्णत: परित्याग करके ही साधुजीवन को तथा अंशतः त्याग करके श्रावकजीवन को अंगीकार करता है। अगर एक दृष्टि से देखें तो प्रथम पाँच पापों में शेष पापों का समावेश हो सकता है। प्रसंगोचित महामोहनीय कर्मबन्ध के 30 कारण भी प्रवृत्ति रूप इन प्रथम पाँच पापों में समाविष्ट हो सकते हैं।

(1) प्राणातिपात (हिंसा)–प्राणों का अतिपात अर्थात् घात करने रूप प्रथम पाप में 1, 2, 3, 4, 5, 15, 16, 17 ये निम्नलिखित आठ महामोहनीय कर्म के बन्ध स्थान समाविष्ट होते हैं–

(1) त्रस प्राणियों को जल में डुबोकर या प्रचण्ड वेग वाली तीव्र जलधारा में डालकर मारना, (2) प्राणियों के मुँह, नाक आदि श्वाँस लेने के मार्ग को हाथ आदि से अवरुद्ध कर अव्यक्त शब्द करते हुए मारना, (3) अनेक प्राणियों को एक घर में घेरकर अग्नि के धुँए से उन्हें मारना, (4) किसी प्राणी के उत्तमांग (शिर) पर शस्त्र का प्रहार कर भेदन करना, (5) तीव्र अशुभ परिणामों से किसी प्राणी के शिर को गीले चर्म के अनेक वेष्टनों से वेष्टित करना, (6) सर्पिणी जिस प्रकार अपने ही अण्डों को खा जाती है, उसी प्रकार पालनकर्ता, सेनापति तथा कलाचार्य या धर्माचार्य को मार डालना, (7) राष्ट्रनायक को, निगम के नेता को तथा लोकप्रिय श्रेष्ठी को जो मार डालना, (8) अनेकजनों के नेता का तथा समुद्र में द्वीप के समान अनाथजनों के रक्षक का घात करना।

वैसे देखा जाए तो यह मात्र प्राणों का घात करना ही नहीं है, इसके साथ क्रोध,

द्वेष आदि पाप भी जुड़ जाते हैं इसके कारण ही ये महामोहनीय कर्म का स्वरूप ले पाते हैं।

(2) मृषावाद (झूठ बोलना)–झूठ बोलने रूप यह दूसरा पाप महामोहनीय कर्मबन्ध के 7, 8, 9, 19, 20, 21, 23, 26, 29 और 30 इन निम्नलिखित दस कारणों को व्याख्यायित करता है–

(1) गूढ़ आचरणों से अपने मायाचार को छिपाना, असत्य बोलना और सूत्रों के यथार्थ अर्थों को छिपाना, (2) निर्दोष व्यक्ति पर मिथ्या आक्षेप करना, अपने दुष्कर्मों का उस पर आरोपण करना, (3) भरी सभा में जान-बूझकर मिश्र भाषा बोलना, (4) अज्ञानी अनन्त ज्ञान-दर्शन सम्पन्न जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद-निन्दा करना, (5) अनेक भव्य जीवों को न्याय मार्ग से भ्रष्ट करना और न्यायमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा करना, (6) जिन आचार्य या उपाध्यायों से श्रुत और आचार ग्रहण किया है, उनकी ही अवहेलना करना, (7) बहुश्रुत नहीं होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत, स्वाध्यायी और शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता कहना, (8) चतुर्विध संघ में मतभेद पैदा करने के लिए कलह के अनेक प्रसंग उपस्थित करना, (9) देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण और बल-वीर्य का अवर्णवाद बोलना, (10) अज्ञानी जिनेन्द्र देव की पूजा के समान अपनी पूजा का इच्छुक होकर देव, यक्ष और असुरों को नहीं देखता हुआ भी कहे कि 'मैं इन सबको देखता हूँ', इस प्रकार कहना।

इन कारणों में केवल मृषावाद पाप की प्रवृत्ति ही नहीं साथ में माया, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, माया मृषावाद आदि पापों की प्रवृत्ति भी जुड़ जाती है। इसीलिए ये महामोहनीय कर्मबन्ध का स्वरूप ले लेते हैं।

(3) अदत्तादान–चोरी करना तीसरा प्रमुख पाप है। इसमें महामोहनीय कर्म-बन्ध के 6, 13, 14, 22, 24, 25 ये निम्नांकित छह कारण समाविष्ट होते हैं–

(1) किसी प्राणी को धोखा देकर भाले से या डण्डे से मारकर हँसना, (2)-जिसका आश्रय पाकर आजीविका कर रहा है और जिसकी सेवा करके समृद्ध हुआ है, उसी के धन का अपहरण करना, (3) जिनकी सहायता से सर्वसाधन-सम्पन्न बना है, ईर्ष्यायुक्त एवं कलुषित चित्त होकर उन आश्रयदाताओं के लाभ में अन्तराय उत्पन्न करना, (4) आचार्य, उपाध्याय की सम्यक् प्रकार से सेवा नहीं करना तथा उनका आदर-सत्कार नहीं करना और अभिमान करना, (5) तपस्वी नहीं होते हुए

भी अपने आपको तपस्वी कहना, (6) समर्थ होते हुए भी रोगी की सेवा का महान कार्य नहीं करना, अपितु 'मेरी इसने सेवा नहीं की है, अत: मैं भी उसकी सेवा क्यों करूँ' इस प्रकार कहना।

मात्र सामान्य चोरी के भाव के कारण ऐसा तीव्र बन्ध नहीं होता। जब इसके साथ द्वेष, मान, मिथ्यादर्शन शल्य आदि पापों का समावेश होता है तो ही महामोहनीय कर्मबन्ध का रूप प्राप्त होता है।

(4) अब्रह्म सेवन–अब्रह्म का सेवन करने रूप चौथे पाप में 11, 12, 28 वाँ ये अग्रांकित तीन महामोहनीय कर्मबन्ध के कारण समाविष्ट होते हैं–

(1) बालब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी अपने आपको बालब्रह्मचारी कहना और स्त्रियों का सेवन करना, (2) ब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी–'मैं ब्रह्मचारी हूँ' इस प्रकार कहना। इस प्रकार कहने वाला गायों के बीच गधे के समान बेसुरा बकता है और अपनी आत्मा का अहित करने वाला होता है तथा वह मूर्ख मायायुक्त झूठ बोलकर स्त्रियों में आसक्त रहता है। (3) मानुषिक और दैवीय भोगों की अतृप्ति से उनकी बार–बार अभिलाषा करना।

मैथुन पाप के साथ रति–अरति आदि पापों का मिश्रण होने से यह कर्मबन्ध महामोहनीय का स्वरूप प्राप्त करता है।

(5) परिग्रह–'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है। इस पाँचवें पाप में 10, 18, 27वाँ ये निम्नलिखित तीन महामोहनीय कर्म बन्ध के कारण रखे जा सकते हैं–

(1) कूटनीतिज्ञ मन्त्री द्वारा किसी बहाने से राजा को राज्य से बाहर भेजकर राज्यलक्ष्मी का उपभोग करना, (2) पापों से विरत दीक्षार्थी को और तपस्वी साधु को धर्म से भ्रष्ट कर परिग्रह में धकेलना, (3) श्लाघा या मित्रगण के लिए अधार्मिक योग करके वशीकरणादि का बार–बार प्रयोग करना।

इस मूर्च्छा परिग्रह पाप के साथ जब लोभ रूपी पाप भी जुड़ जाता है तब यह महामोहनीय कर्म का रूप लेता है।

जैन वाङ्मय में महामोहनीय कर्मबन्ध के उदाहरण

(1) उपरिचरवसु[8]– इतिहास में आख्यान मिलता है कि हरिवंश की परम्परा

के उपरिचरवसु ने अपने साथ सहपाठी रहे गुरुपुत्र पर्वत के प्रति राग भाव के कारण राज सभा में 'अज' शब्द का सही अर्थ जानते हुए भी गलत अर्थ किया। जिससे यज्ञों में हिंसा का महाभयंकर प्रतिपादन हुआ। लोगों में अच्छा दिखने के लिए 'मिश्रभाषा' का प्रयोग करने रूप 9वें कारण से महामोहनीय कर्म का बन्ध करके दुर्गति का अधिकारी बना।

(2) जमदग्नि पुत्र परशुराम[9]-मातृ-हत्या, नृप-हत्या एवं सात बार इस पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन करने वाले परशुराम ने बड़ी मात्रा में मनुष्य जाति का घात किया। तलवार आदि शस्त्र से मस्तक आदि काटकर मारने से वह दुर्गति का अधिकारी बना। महामोहनीय कर्मबन्ध के 15वें एवं 17वें कारण की प्रवृत्ति करके नरकगामी बना।

(3) ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती[10]- ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पूर्वभव में साधुपने में निदान के कारण चक्रवर्ती बना। चक्रवर्ती बनने पर पूर्व के 5 भवों के साथी चित्तमुनि द्वारा अनेक प्रकार से समझाने पर भी ब्रह्मदत्त अपने चक्रवर्ती सम्बन्धी भोगों में आसक्त होने से उन्हें छोड़ने में समर्थ न हो सका। मनुष्य सम्बन्धी भोगों में तीव्र आसक्त होने से महामोहनीय कर्मबन्ध के 28वें कारण से नरकगामी बना।

(4)सम्भूम चक्रवर्ती-चक्रवर्ती छह खण्ड का अधिपति होता है। इससे ज्यादा का स्वामित्व उसे प्राप्त नहीं होता। परन्तु सम्भूम चक्रवर्ती तीव्र आसक्ति एवं महत्त्वाकांक्षा के कारण सातवें खण्ड को साधने गया। इसके फलस्वरूप महामोहनीय कर्म के 19वें एवं 20वें कारण से वह दुर्गति का अधिकारी बना।

(5) तन्दुल मत्स्य-चावल के दाने के बराबर की अवगाहना वाला तन्दुल मत्स्य मगरमच्छ की भौंह पर बैठा-बैठा केवल अनेक मछलियों को मारने की भावना से ही दुर्गति गामी हुआ। महामोहनीय कर्म के बन्ध के प्रथम कारण का सेवन करने से उसने अपना पतन कर लिया।

जिज्ञासा होती है कि 25वाँ स्थान वैयावृत्त्य नहीं करने से सम्बन्धित होने पर महामोहनीय कर्मबन्ध में कैसे लिया जाए? क्योंकि इसमें न तो क्रूर परिणाम है और न ही हिंसाचरण?

समाधान यूँ समझा जा सकता है कि महामोहनीय कर्म के बन्ध का मापदण्ड मात्र हिंसात्मक प्रवृत्ति नहीं है। जब आत्मगुणों की जबरदस्त हानि हो तो उस समय भी जीव महामोहनीय कर्म का बन्ध कर सकता है। समर्थ होते हुए भी रोगी की सेवा

नहीं करना, सेवारूपी इस महान कार्य का अपमान ही नहीं अपितु आत्म गुण अनुकम्पा की महान हानि भी है। जब जीव के अन्तर से अनुकम्पा समाप्त हो जाती है तब ही वह सेवा को भूलकर अपने अनन्तानुबन्धी मान को पोषित करता है और महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

दूसरी जिज्ञासा यह हो सकती है कि 27वाँ स्थान मित्र बनाने के लिए अधार्मिक योग अर्थात् वशीकरण आदि का प्रयोग करना है। इसमें भी हिंसादि का प्रंसग नहीं होने से महामोहनीय कर्मबन्ध कैसे?

इसका समाधान यह है कि जीव अपने व्यवहार से मित्र आदि का संग्रह करे तो कर्म के विशेष बन्ध का कारण नहीं होता। परन्तु अपने अहंपोषण तथा दूसरों पर अधिकार जमाने रूप दुर्गुणों को अपना कर वशीकरण मन्त्र आदि का दुरुपयोग करता है तो महामोहनीय कर्म ही बँधता है।

अन्य जिज्ञासा यह हो सकती है कि 18वाँ स्थान दीक्षार्थी, संयमी को धर्म से भ्रष्ट करना है। इससे महामोहनीय कर्मबन्ध का सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है?

इसका समाधान यह है कि दीक्षार्थी, संयमी आत्मधर्म को अपनाकर सभी जीवों के लिए हितकारी प्रवृत्ति करने वाले होते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की पीड़ा को जानकर समस्त छह काय जीवों के अभयदाता बनते हैं। उन छह काय के जीवों के अभयदाता को धर्म से पतित करने पर भविष्य में जितनी भी हिंसा उनके द्वारा होगी, उसके निमित्त रूप में होने से महामोहनीय कर्मबन्ध करने वाला हो जाता है।

एक और जिज्ञासा यह हो सकती है कि त्रस की विराधना से सम्बन्धित कितने महामोहनीय कर्मबन्ध के स्थान हैं?

समाधान यह है कि वर्णित 30 महामोहनीय कर्मबन्ध के स्थानों में 1 से 6, 8, 10, 13 से 17, 19, 20, 25 से 29 तक के बीस स्थान त्रस विराधना से सम्बन्धित कहे जा सकते हैं। वस्तुत: सभी स्थानों में कहीं न कहीं हिंसा का आचरण तो है ही, चाहे वह आत्मगुणों की हिंसा से ही सम्बन्धित हो। त्रस जीवों की विराधना के इन 30 स्थानों के अलावा भी अनेक महामोहनीय कर्मबन्ध के स्थान सम्भव हैं।

एक जिज्ञासा है कि सभा में भाषण देते हुए किन-किन महामोहनीय कर्मबन्ध के स्थानों से बचने की आवश्यकता होती है?

समाधान यह है कि सभा में भाषण देते हुए 7, 9, 19, 20, 23, 26 इन छह स्थानों से बचने की अति आवश्यकता रहती है। क्योंकि सभा में दिया गया भाषण अनेक श्रोताओं के लिए आचरणीय बन सकता है। यदि भाषण में कुछ भी उक्त स्थानों से सम्बन्धित प्रवृत्ति होती है और उसके पीछे दुर्भावना रहती है, तो महामोहनीय कर्मबन्ध की आशंका बन जाती है।

उपसंहार–हिंसा, निर्दयता, क्रूरता, कठोरता, पाशविकता का जब अन्त:करण में उभार होता है तब व्यक्ति दूषित से दूषित, हीन से हीन कर्म करता हुआ नहीं सकुचाता। उस समय उसके परिणामों की धारा, लेश्याएँ अशुभ से अशुभतर हो जाती हैं। आत्मप्रशंसा, यशस्विता, कीर्तिकांक्षा जब सीमा पार करने लगती है तब व्यक्ति विविध प्रकार के माया एवं प्रवंचनापूर्ण व्यवहारों द्वारा अपने आपको, जैसा कि वह नहीं है, दिखलाने का जघन्य पाप करता है।

अभिमान या दम्भ भी एक ऐसा भयानक रोग है, जो आत्मसाधना में घोर विघ्न उपस्थित करता है। इस प्रकार घोर हिंसाप्रवण, क्रूर, नितान्त स्वार्थपूरित, अहंमन्यता और दम्भयुक्त परिणामों से मलिनचेता पुरुष नीच से नीच कर्म करता हुआ भी नहीं सकुचाता।

सारांश यह है कि इन तीस महामोहनीय कर्मबन्ध के स्थानों में कषाय की तीव्रता के साथ जीव की हिंसकवृत्ति, विश्वासघात, कृतघ्नता, परनिन्दा, विपरीत प्ररूपणा, आशातना, भोगवती बुद्धि, कामवासना आदि दुर्गुणों का प्राबल्य बताया गया है।

विशेष बात तो यह है कि महामोहनीय कर्म जो कि आत्मा को विशेष भारी करने वाला है, उसका भी नाश सम्भव है। जीव की ताकत अपरिमित है। वह विशेष पुरुषार्थ द्वारा क्रूर परिणामों में बँधे निकाचित कर्मों को भी समाप्त करने का सामर्थ्य रखता है। अन्तर में पश्चात्ताप की ज्वाला जले, वो भी विशिष्ट क्रियानुष्ठान के साथ तो इनका खात्मा सम्भव है। गुरुदेव के शब्दों में–''भूल करने के लिए कोई समय अच्छा नहीं है और भूल का सुधार करने के लिए कोई समय बुरा नहीं है।'' कषाय की तीव्रता से यदि पूर्व में महामोहनीय कर्म का बन्ध भी हो गया तो वह भी या तो काल के परिपाक से उदय होकर निर्जरित होगा या विशिष्ट पुरुषार्थ द्वारा अनुप्रेक्षा आदि से अपवर्तन कर निर्जरित होगा। उक्त आलेख गुरु-भगवन्तों के सानिध्य में

उनके कृपाप्रसाद से प्राप्त अनमोल श्रुत के आधार पर लिखा है। इसमें भगवद् वाणी के विपरीत कुछ लिखने में आया हो तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। अन्त में शास्त्र के वचनों से ही इसका समापन करता हूँ।

एवं अभिसमागम्म, सूरा दढपरक्कमा।

सव्वमोहविणिमुक्का, जाइमरणमतिच्छिया।।11

जो दृढ़ पराक्रमी, शूरवीर इन सभी स्थानों को जानकर उन मोहबन्ध के कारणों का त्याग कर देता है, वह जन्म-मरण का अतिक्रमण करता है अर्थात् संसार से मुक्त हो जाता है।

सन्दर्भ सूची

1. साध्वी युगलनिधि-कृपा, कर्मसंहिता, प्रथम आवृत्ति-2006, मैत्री चेरिटेबल फाउण्डेशन, नईदिल्ली, पृष्ठ 146-147
2. श्री मिश्रीमलजी म.सा., कर्मग्रन्थ भाग-5, तृतीय आवृत्ति-2015, श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर-ब्यावर, पृष्ठ 181
3. साध्वी युगलनिधि-कृपा, कर्मसंहिता, प्रथम आवृत्ति-2006, मैत्री चेरिटेबल फाउण्डेशन, नईदिल्ली, पृष्ठ 204-205
4. श्री उमेशमुनिजी म.सा. 'अणु', मोक्ख पुरिसत्थो भाग-3, तृतीय आवृत्ति 2009, पूज्य श्री नन्दाचार्य साहित्य समिति, मेघनगर, पृष्ठ 31
5. आचार्य महाप्रज्ञ, आचार्य महाश्रमण, दसाओ, प्रथम आवृत्ति-2014, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, पृष्ठ 155
6. युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी म.सा., स्थानाङ्गसूत्र, द्वितीय आवृत्ति-2016, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
7. नेमीचन्द बांठिया-पारसमल चण्डालिया, त्रीणि छेदसूत्राणि, द्वितीय आवृत्ति-2007, श्री अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, पृष्ठ 106
8. आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा., जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग-1, चतुर्थ आवृत्ति-1999, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, पृष्ठ 318
9. वही, पृष्ठ 290-297
10. वही, पृष्ठ 438
11. युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी म.सा., त्रीणि छेदसूत्राणि, द्वितीय आवृत्ति-2016, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, पृष्ठ 76, 79

-37/67, रजत पथ, मानसरोवर, जयपुर-302020 (राज.)

जैनागमों में मरण का स्वरूप

-श्रीमती अरूणा कर्नावट, जयपुर

आत्मा की दीर्घकालिक संसार-यात्रा के दो पड़ाव हैं-जन्म और मरण। कहते हैं कि जीव काल करके एक स्थान अथवा गति से दूसरी गति में गया। तब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या? जीव कभी काल करता है क्या? जीव तो आत्मा का पर्यायवाची रूप अथवा दूसरा नाम है, आत्मा तो अजर-अमर है। सारांश यह है कि जीव या आत्मा काल नहीं करते हैं तो काल कौन करता है? शरीरधारी जीव ही काल करते हैं। जो जीव शरीर से रहित हो चुके हैं जैसे सिद्ध भगवान जिनके अष्ट कर्म क्षय हो चुके हैं। वे जीव जन्म-मरण नहीं करते हैं।

मरण कहते किसको हैं? मरण का स्वरूप क्या है?

वर्तमान भव से काल करना मरण कहलाता है। जब आयुष्य पूर्ण करके जीव अमुक शरीर से अलग होता है, वह मरण है। जीव और द्रव्य प्राणों का सर्वथा सम्बन्ध छूट जाना मरण है। आत्मा के मध्यवर्ती आठ रूचक प्रदेशों का छूट जाना मरण है। एक अपेक्षा से प्रतिसमय वर्तमान पर्याय का व्यतीत होना भी मरण कहलाता है। यद्यपि आत्मा अजर-अमर व अजन्मा है उसका न तो जन्म होता है और न ही मरण। फिर भी संसारावस्था में शरीरधारी जीव की अपेक्षा से जन्म और मरण कहा जाता है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि वर्तमान भव के शरीर को छोड़कर जीव का प्रयाण कर जाना ही मरण है।

गोम्मटसार प्र./606/1062।16 के अनुसार-**स्वपरिणामोपात्तस्यायुष-इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम्।** अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन-वचन-काय इन तीन बलों का कारण विशेष के मिलने पर नाश होना मरण कहलाता है।

यद्यपि संसार में सभी शरीरधारी जीव मरणधर्मा हैं परन्तु अज्ञानियों की मृत्यु बालमरण है और ज्ञानियों की मृत्यु पण्डितमरण है। शरीर द्वारा जीव का त्याग किया जाना अज्ञानियों की मृत्यु है जबकि जीव द्वारा शरीर का त्याग किया जाना ज्ञानियों की मृत्यु है। इसे समाधिमरण भी कहते हैं। अतिवृद्ध या रोगग्रस्त हो जाने पर जब

शरीर उपयोगी नहीं रह जाता है तो ज्ञानीजन धीरे-धीरे भोजन का त्याग करते हुए शरीर व कषायों को कृष करते हुए शरीर का त्याग कर देते हैं। अज्ञानीजन इसे अपमृत्यु समझते हैं, पर वास्तव में कषायों के क्षीण हो जाने पर सम्यग्दृष्टि जाग्रत हो जाने के कारण यह अपमृत्यु नहीं वरन् संलेखना मरण अथवा समाधिमरण है। जैनागमों में तीन प्रकार के मरण बताये गये हैं-

(1) बालमरण-अव्रती जीवों का मरण बालमरण कहलाता है।

(2) बाल-पण्डितमरण-देशविरति श्रावक का संथारे सहित मरण बाल-पण्डितमरण कहलाता है।

(3) पण्डितमरण-पाँच समिति-तीन गुप्ति से युक्त साधु-साध्वियों का संथारे सहित मरण पण्डितमरण कहलाता है।

चारों गतियों में मरण के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। धवलासूत्र 6/1, 9-1 में सूत्रकार भूतबलि आचार्य ने भिन्न-भिन्न गतियों से छूटने के अर्थ में सम्भवत: गतियों की हीनता व उत्तमता के आधार पर भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे नरकगति व भवनपतित्रिक हीन है, अतएव उनसे निकलने के लिए 'उद्वर्तन' अर्थात् उद्धार होना कहा है। तिर्यंच व मनुष्य गतियाँ सामान्य है अतएव उनसे निकलने के लिए 'काल' करना शब्द का प्रयोग किया है। सौधर्मादिक विमानवासियों की गति उत्तम है अतएव वहाँ से निकलने के लिए 'च्युत' होना शब्द का प्रयोग किया गया है।

भगवतीसूत्र शतक 1 उद्देशक 1 में मरण के दो ही प्रकार बताये हैं-बालमरण और पण्डितमरण। इन्हें ही यहाँ हम अकाममरण और सकाममरण कह सकते हैं।

बालमरण के 12 भेद-(1) वलय मरण-जीवनपथ से भ्रष्ट होने वाले संयमी का मरण अथवा भूख से तड़पते हुए का मरण। (2) वशार्त मरण-इन्द्रियों के वशीभूत होकर मरने वाले का मरण। (3) अन्त:शल्य मरण-शस्त्रादि की नोक लगने से होने वाला मरण द्रव्य-अन्त:शल्य मरण है। लज्जा-अभिमान आदि के कारण अतिचारों (दोषों) की आलोचना न करके दोषपूर्ण स्थिति में होने वाला मरण भाव-अन्त:शल्य मरण है। (4) तद्भव मरण-वर्तमान भव जन्म से होने वाला मरण। (5) गिरिपतन-पर्वत से गिरकर होने वाला मरण। (6) तरुपतन-पेड़ से गिरकर होने वाला मरण।

(7) जल प्रवेश-जल में डूबकर होने वाला मरण। (8) अग्नि प्रवेश-अग्नि से जलकर होने वाला मरण। (9) विषभक्षण-विषपान करने से होने वाला मरण। (10) शास्त्रावपाटन-किसी शास्त्र से आघात लगने पर होने वाला मरण। (11) वैहायस मरण-वृक्ष की शाखा पर लटकने, झंझापात करने आदि कारणों से होने वाला मरण। (12) गृद्ध पृष्ठ-हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ गिद्ध आदि उस जीवित शरीर को भी नोंच-नोंच कर मार डालते हैं, उस स्थिति में हुआ मरण।

पण्डितमरण के 2 भेद-(1) पादपोपगमन मरण-इसे प्रायोग्य या पादपोपगमन भी कहते हैं। शब्द की दृष्टि से इसका अर्थ इस प्रकार है-अपनी परिचर्या न तो स्वयं करे, न ही दूसरों से करवाये। भव के अन्त करने योग्य संहनन और संस्थान को 'प्रायोग्य' कहते हैं। अत: विशिष्ट संहनन व विशिष्ट संस्थान वाले साधक के मरण को 'प्रायोग्यगमन-मरण' कहा जाता है। स्थिर अवस्था में चारों आहारों का त्याग करके जो मरण होता है, वह 'पादपोपगमन' मरण कहलाता है। (2) भक्तप्रत्याख्यान मरण-यावज्जीवन के लिए त्रिविध या चतुर्विध आहार त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। इसका भी एक भेद है-इंगिनी (या इंगित) मरण। प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण इंगिनीमरण है। इस मरण में साधक अपने अभिप्राय से अपनी शुश्रूषा करता है। दूसरे मुनियों से सेवा नहीं लेता है। यह मरण चारों आहारों का त्याग करने वाले के ही होता है।

समवायाङ्गसूत्र में मरण 17 प्रकार के बताये गये हैं- (1) आवीचि मरण (2) अवधि मरण (3) आत्यन्तिक मरण (4) वलन्मरण (5) वशार्त्त मरण (6) अन्त: शल्य मरण (7) तद्भव मरण (8) बालमरण (9) पण्डितमरण (10) बाल-पण्डितमरण (11) छद्मस्थ मरण (12) केवली मरण (13) वैहायस मरण (14) गृद्धपृष्ठ मरण (15) भक्तप्रत्याख्यान मरण (16) इङ्गिनीमरण (17) पादपोपगमन।

इन 17 भेदों में से 9 भेद उपर्युक्त बालमरण व पण्डितमरण के भेदों में आ चुके हैं। शेष 8 निम्न प्रकार से हैं-

(1) आवीचि मरण-प्रत्येक क्षण में आयुकर्म का जो क्षय होता जा रहा है, वह आवीचि मरण है।

(2) अवधि मरण-एक बार भोगकर छोड़े हुए आयुकर्म के पुद्गलों को जब

तक दोबारा ना भोगना प्रारम्भ कर दे, तब तक के बीच के समय को अवधि मरण कहते हैं।

(3) आत्यन्तिक मरण-आयुकर्म के जिन कर्मदलिकों को एक बार भोगकर छोड़ दिया है। यदि उन्हें फिर ना भोगना पड़े तो उन दलिकों की अपेक्षा जीव का आत्यन्तिक मरण कहलाता है।

(4) बाल मरण-त्याग-पच्चक्खाण रहित प्राणियों का मरण।

(5) पण्डित मरण-सर्वविरति साधुओं का मरण।

(6) बालपण्डित मरण-देशविरति श्रावकों का मरण।

(7) छद्मस्थ मरण-केवलज्ञान प्राप्त किये बिना छद्मस्थ अवस्था में मरण।

(8) केवली मरण-केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद मरण।

श्वेताम्बर ग्रन्थों की बात की जाये अथवा दिगम्बर ग्रन्थों की। लगभग सभी में मरण के समान भेदों को बताया गया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड 57/55 के अनुसार विष खा लेने से, वेदना से, रक्त का क्षय होने से, तीव्र भय से, शस्त्राघात से, संक्लेश की अधिकता से आहार और श्वासोच्छ्वास के रुक जाने से आयु क्षीण हो जाती है अथवा जीव अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है।

मरण के भेद-प्रभेदों को समझने के बाद यही प्रतीत होता है कि साधक के लिए जितना जन्म को समझना आवश्यक है उससे भी अधिक मरण को समझना आवश्यक है। जो सिर्फ जीने की कला जानते हैं, मृत्यु की अथवा मरण की कला नहीं जानते, वास्तव में वे जीवनकला से भी अनभिज्ञ हैं।

इसलिए मुख्य दोनों प्रकार के मरण बालमरण और पण्डितमरण को समझना अत्यन्त आवश्यक है। पण्डितमरण के द्वारा ही जीव सद्गति का वरण कर सकता है अथवा चारों गतियों का क्षय कर सिद्धगति का वरण कर सकता है।

सकाम मरण प्राप्त होने वाला साधक मृत्यु से घबराता नहीं है। मृत्यु उसके लिए वरदान बनकर आती है। कहते हैं जीव का मरण जिस लेश्या में होता है, जन्म भी उसी लेश्या में होता है। अर्थात् हमें हर समय हमारे मन के परिणाम उत्कृष्ट रखने चाहिए। प्रतिपल अप्रमत्त रहकर सचेत रहना चाहिए। प्रतिपल सचेत रहने वाला साधक कभी मृत्यु से घबराता नहीं है, उसे मरण का भय होता ही नहीं है। क्योंकि वह

शरीर व आत्मा का भेद-विज्ञान कर लेता है। उसकी निष्ठा इतनी अधिक दृढ़ हो जाती है कि आत्मा अजर-अमर और अविनाशी है। इस प्रकार स्व-स्वरुप में रमणता एवं संलीनता के दृढ़ अभ्यास से, कषाय व शरीर को कृष करने की प्रक्रिया को अपनाने से साधक मरण से नहीं घबराता है।

साधक की संयमसाधना की परीक्षा मृत्यु के समय में ही होती है। अत: साधक को चाहिए कि वह सकाम मरण व अकाम मरण दोनों का स्वरुप जानकर सकाममरण की ही चाहना करे। वह समाधिमरण (सकाम मरण) के द्वारा मृत्यु को महोत्सव भी बना सकता है। संलेखना-संथारे में जीव कषाय से कलुषित मन के परिणामों को अति विशुद्ध बनाकर अष्टकर्मों को खपाकर शाश्वत सुख की प्राप्ति कर सकता है।

जिसने जन्म लिया है, मृत्यु ही उसके जीवन का निचोड़ व अन्तिम सत्य है। अत: साधक विवेकपूर्वक सकाम मरण व अकाम मरण का स्वरुप दूसरों को समझाकर उनका भी मार्ग प्रशस्त कर सकता है। अकाममरण का परिहार करके सकाम मरण को स्वीकार करके ऊर्ध्वगति की ओर गमन कर सकता है।

सन्दर्भ-सूची

1. भगवतीसूत्र शतक 1 उद्देशक 2
2. गोम्मटसार 57/55, 606/1062/16
3. समवायाङ्गसूत्र 17वाँ समवाय
4. उत्तराध्ययनसूत्र अ. 5
5. धवलासूत्र 6/1, 9-1

स्वाध्यायियों और लेखकों से निवेदन...

विद्वान विचारक, लेखक एवं स्वाध्यायी पाठकों की ज्ञानवृद्धि करने वाली, सम्यक् आचार की प्रेरणा देने वाली रोचक एवं प्रामाणिक रचनाएँ भेजेंगे तो हम उत्साहित होकर '**स्वाध्याय शिक्षा**' का स्वरूप निरन्तर निखारते-सँवारते रहेंगे।

आगामी अङ्क '**आगम अनुप्रेक्षा-भगवतीसूत्र**' से सम्बन्धित सामग्री से परिपूर्ण होगा। इस हेतु भगवतीसूत्र से सम्बन्धित धारणाएँ सन्दर्भ सहित हमें प्रेषित करने की कृपा करावें, यही विनम्र अनुरोध है। **-सम्पादक**

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी-(23)

इस अङ्क में से 10 प्रश्न पूछे जा रहे हैं, जिनके उत्तर आप **15 मई, 2022 तक सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र के पते** पर प्रेषित करें। श्रेष्ठ उत्तरदाताओं में से लॉटरी द्वारा पाँच उत्तरदाताओं का चयन करके प्रत्येक को रुपये **200/-** के सम्मान पुरस्कार प्रदान किये जायेंगे। आवश्यक हो उतना ही उत्तर दें अन्यथा अंक काटे जायेंगे। -सम्पादक

1. दृष्टिवाद के मातृकापद कितने हैं?
2. दीक्षा ग्रहण करते समय की मुद्रा का नाम क्या है?
3. साम्यवाद का मूर्त उदाहरण क्या है?
4. 'सुनकर लिपिबद्ध किया हुआ साहित्य' यह किसका एक अर्थ है?
5. परमात्मा आदि के गुणगान में प्रवृत्त होना क्या है?
6. किसमें दया नहीं रहती?
7. निर्युक्तिकार ने आठ प्रकार के कर्मों को संक्षेप में क्या कहा है?
8. भव के अन्त करने वाले संहनन और संस्थान को क्या कहते हैं?
9. क्या समीप आने पर लक्ष्मी के द्वारा विष्णु भी छोड़ दिये जाते हैं?
10 किसी वस्तु को ग्रहण करने से पूर्व स्वामी की आज्ञा लेना क्या है?

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी (21) के लॉटरी से चयनित श्रेष्ठ पाँच उत्तरदाता

सभी उत्तरदाता अपने बैंक खाते का विवरण मय आईएफसी कोड सहित उत्तरपत्र के साथ अवश्य भेजे। जिससे राशि आपके खाते में प्रेषित की जा सके।

(1) डॉ. निहालचन्दजी गुलाबचन्दजी सेठिया, शिरपुर (महा.)
(2) डॉ. पदमचन्दजी मुणोत, जयपुर (राज.)
(3) श्री सुदर्शनजी जैन, चौथ का बरवाड़ा, जिला-सवाई माधोपुर (राज.)
(4) श्री सुरेशचन्दजी जैन, खेरली जिला-अलवर (राज.)
(5) सुश्री अंजली जैन, पीपाड़ सिटी, जिला-जोधपुर (राज.)

उत्तरमाला (21)-(1) समाधि भाव (2) आशा (3) मद (4) अनिष्ट चिन्तन (5) आगम (6) संसार (7) एकात्मवाद (8) दूषित आहार (9) दुःख (10) बोधिलाभ।

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ
की नवीन कार्यकारिणी गठित

23 जनवरी, 2022 को ऑनलाईन माध्यम से आयोजित संघ एवं संघ की सहयोगी संस्थाओं की आमसभा में संघ की प्रमुख संस्था श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ के **संयोजक पद** पर **श्री सुभाषजी हुण्डीवाल, जोधपुर** को पुनः मनोनीत किया गया। पूर्व में भी आपने इस उत्तरदायित्व का वहन पूर्ण समर्पण के साथ कुशलतापूर्वक किया। स्वाध्यायी संघ के अन्य सहयोगी सदस्यों का चयन इस प्रकार किया गया–सहसंयोजक–श्री पदमचन्दजी गोटेवाला, सवाई माधोपुर। सौ. मंगलाजी चोरड़िया, जलगाँव। सचिव–श्री सुनीलजी संकलेचा, जोधपुर। सहसचिव–श्री जिनेन्द्रजी जैन, गंगापुर सिटी। कोषाध्यक्ष–श्री चंचलजी गिड़िया, जोधपुर।

जोधपुर में त्रिदिवसीय स्थानीय स्वाध्यायी प्रशिक्षण शिविर सम्पन्न

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर के तत्त्वावधान में दिनांक 27 फरवरी से 1 मार्च, 2022 तक दोपहर 1 से 3.45 बजे तक त्रिदिवसीय स्थानीय स्वाध्यायी प्रशिक्षण शिविर का आयोजन नेहरूपार्क स्थानक में आचार्य भगवन्त परम पूज्य 1008 श्री हीराचन्द्रजी म.सा. की आज्ञानुवर्तिनी व्याख्यात्री महासती श्री ज्ञानलताजी म.सा. आदि ठाणा 13 के पावन सान्निध्य में रखा गया। शिविर में महासती श्री भाग्यप्रभाजी म.सा. ने अन्तगड़सूत्र की धारणाएँ एवं आगम का स्वाध्याय करने की प्रेरणा, महासती श्री लक्षितप्रभाजी म.सा. ने संवर एवं पौषध सम्बन्धी जिज्ञासाओं के समाधान एवं महासती श्री मधुश्रीजी म.सा. ने प्रतिक्रमण सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के माध्यम से स्वाध्यायियों को ज्ञानार्जन करवाया।

महासती मण्डल के साथ ही अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड के रजिस्ट्रार श्रीमान धर्मचन्दजी जैन द्वारा तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अध्यापन करवाया गया एवं संघ के संयुक्त महामन्त्री श्रीमान प्रकाशजी सालेचा ने स्वाध्यायी की गुणवत्ता बढ़ाने के बारे में सरल भाषा में स्वाध्यायियों को समझाया।

शिविर में लगभग 60 स्वाध्यायियों ने भाग लेकर ज्ञानार्जन किया और वर्षभर में तीन आगम का स्वाध्याय करने का संकल्प लेने के साथ ही अपनी इच्छानुसार व्रत–नियम ग्रहण किये। शिविर के अन्तिम सत्र में अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष सम्माननीय न्यायाधीश श्री प्रकाशचन्दजी टाटिया, महामन्त्री श्री धनपतचन्दजी सेठिया, संयुक्त महामन्त्री श्री प्रकाशजी सालेचा, स्थानीय अध्यक्ष श्री सुभाषचन्दजी गुन्देचा, शिक्षण के बोर्ड के सचिव श्री सुभाषजी

नाहर, संस्कार केन्द्र के सचिव श्री राजेशजी भण्डारी, स्वाध्याय संघ के निदेशक श्री चंचलमलजी चोरड़िया, संयोजक श्री सुभाषजी हुण्डीवाल एवं सचिव श्री सुनीलजी संकलेचा, कोषाध्यक्ष श्री चंचलजी गिडिया, युवक परिषद के अध्यक्ष श्री गजेन्द्रजी चौपड़ा एवं श्राविका मण्डल की अध्यक्ष श्रीमती सुमनजी सिंघवी आदि अनेक गणमान्य पदाधिकारी उपस्थित रहें। पूरे भारतवर्ष के स्वाध्यायियों के संक्षिप्त परिचय की ''स्वाध्यायी निर्देशिका'' का विमोचन भी इस सत्र में उपस्थित पदाधिकारियों के कर-कमलों से हुआ। सभी स्वाध्यायियों का अनुरोध था कि महीने-दो महिने में ऐसे शिविर निरन्तर आयोजित किये जायें। सभी शिविरार्थियों को स्मृति चिह्न एवं स्वाध्यायियों को स्वाध्यायी निर्देशिका प्रदान की गई।

शिविर में पधारे हुए स्वाध्यायियों के लिये स्थानीय संघ द्वारा अल्पाहार की सुन्दर व्यवस्था के लिये धन्यवाद ज्ञापित किया गया।

सुनील संकलेचा-सचिव, स्वाध्याय संघ

हैदराबाद में त्रिदिवसीय स्वाध्यायी प्रशिक्षण शिविर सम्पन्न

श्री जैन स्वाध्याय संघ, हैदराबाद द्वारा 25 से 27 फ़रवरी 2022 तक त्रिदिवसीय स्वाध्यायी शिविर श्री राजेन्द्रसूरी जैन मन्दिर कुलपाकजी तीर्थक्षेत्र में आयोजित किया गया जिसमें काचीगुडा, कामारेड्डी, सिकन्दराबाद, विजयवाडा, यादगिरी आदि स्थानों से 110 से अधिक शिविरार्थियों ने भाग लिया। श्री प्रकाशजी जैन, जयपुर, श्री मनोज संचेती, सुश्री नेहाजी चोरडिया, श्री शुभम जी बोहरा, जलगाँव की अध्यापक के रूप में महनीय सेवाएँ प्राप्त हुईं। सामायिकसूत्र, प्रतिक्रमणसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र 4, 28 वाँ अध्ययन, 67 बोल, अन्तगड़सूत्र, उच्चारण शुद्धि के नियम, वक्तृत्व कला, जिज्ञासा -समाधान, स्तवन, भाषण प्रतियोगिता, जैनधर्म का इतिहास आदि विषयों का अध्यापन हुआ। श्री शान्तिलालजी गुन्देचा, श्री गौतमजी डंक, श्री आदेशजी सुराणा, श्री मुकेशजी गुन्देचा, श्री अनिलजी भण्डारी, युवा कार्यकर्ता श्री जिनेशजी बोहरा, रूपचन्द परमार (मास्टरजी)के साथ संघ कार्यकर्ताओं का शिविर सफल बनाने में सुन्दर योगदान रहा।

-रूपचन्द परमार, अध्यापक

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर हेतु साभार

1100/- श्री अर्जुनराजजी मेहता, जोधपुर, श्री अपूर्वजी मेहता के (सी.एम.ए.), श्री राहुलजी जैन के (सी.ए.) एवं सुश्री मानसीजी सर्राफ के (सी.ए.) की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपलक्ष्य में।

पर्युषण पर्वाराधना हेतु स्वाध्यायी आमन्त्रित कीजिए

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर विगत 76 से भी अधिक वर्षों से सन्त-सतियों के चातुर्मास से वञ्चित गाँव-शहरों में पर्वाधिराज पर्युषण पर्व के पावन अवसर पर धर्माराधन हेतु योग्य, अनुभवी एवं विद्वान् स्वाध्यायियों को बाहर क्षेत्र में भेजकर जिनशासन एवं समाज की महत्ती सेवा करता आ रहा है। इस वर्ष भी उन क्षेत्रों में जहाँ जैन सन्त-सतियों के चातुर्मास नहीं हैं, स्वाध्यायी बन्धुओं को भेजने की व्यवस्था है। इस वर्ष पर्युषण महापर्व 24 से 31 अगस्त, 2022 तक रहेंगे। अत: देश-विदेश के इच्छुक संघ के अध्यक्ष-मन्त्री निम्नांकित बिन्दुओं की जानकारी के साथ अपना आवेदन पत्र 10 जुलाई, 2022 तक कार्यालय को अवश्य प्रेषित करने का श्रम करावें। पहले प्राप्त आवेदन पत्रों को प्राथमिकता दी जाएगी।

1. गाँव/शहर का नाम.....जिला.....प्रान्त.....
2. श्री संघ का नाम व पूरा पता.....
   .....
3. संघाध्यक्ष का नाम, पता मय फोन नं.....
   .....
4. संघ मन्त्री का नाम, पता मय फोन नं.....
   .....
5. सम्बन्धित स्थान पर पहुँचने के विभिन्न साधन.....
   .....
6. सम्पूर्ण जैन घरों की संख्या.....
7. क्या आपके यहाँ धार्मिक पाठशाला चलती है?.....
8. क्या आपके यहाँ स्वाध्याय का कार्यक्रम नियमित चलता है?.....
9. पर्युषण सेवा सम्बन्धी आवश्यक सुझाव.....
   .....
10. अन्य विशेष विवरण.....

आवदेन करने का पता– संयोजक/सचिव, श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, प्लॉट नं. 2, सामायिक स्वाध्याय भवन, नेहरू पार्क, जोधपुर-342001 (राज.) फोन नं. 0291-2624891, 9414126279, 9444852330, 9462543360 (कार्यालय) मो.-9460551096 (संयोजक), ईमेल-swadhyaysanghjodhpur@gmail.com

विशेष–दक्षिण भारत के संघ अपनी माँग श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ शाखा चेन्नई 24/25, Water Basin Street, Sowcarpet Chennai-600001 (Tamilnadu) के पते पर भी भेज सकते हैं। सम्पर्क सूत्र-9444051065

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ के विविध सेवा-सोपान

- पर्युषण सेवा
- स्वाध्याय शिक्षा (द्वैमासिक) का प्रकाशन
- प्रचार-प्रसार कार्यक्रम
- नये स्वाध्यायी तैयार करना
- समय - समय पर शिविर आयोजित करना
- स्वाध्यायियों को प्रशिक्षित करना।
- निर्व्यसनी सामायिक कार्यक्रम

BOOK PACKETS CONTAINING PERIODICALS Value of Periodical
From Rs. 1/- to Rs. 20/- For First 100 gms or part thereof Rs. 2/-

To,

If undelivered, please return to

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ
(संचालक-गजेन्द्र निधि)
सामायिक स्वाध्याय भवन, प्लॉट नं. 2,
नेहरू पार्क, जोधपुर-342001 (राज.)
फोन 0291-2624891

स्वामी - श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर
मुद्रक - डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर
प्रकाशक - सुभाष हुण्डीवाल, जोधपुर से प्रकाशित
सम्पादक - प्रकाशचन्द जैन